॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्ररूपका वर्णन करते हुए ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छः शब्दोंका प्रयोग किया और इस समग्ररूपको जाननेवाले योगियोंको अन्तकालमें अपनी प्राप्ति बतायी। इसको सुनकर इन छः शब्दोंको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये अर्जुन आठवें अध्यायके आरम्भके ही श्लोकोंमें कुल सात प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन बोले—

पुरुषोत्तम	= हे पुरुषोत्तम!	**प्रोक्तम्**	= कहा गया है?	**देहे**	= देहमें
तत्	= वह	**च**	= और	**कथम्**	= कैसे है?
ब्रह्म	= ब्रह्म	**अधिदैवम्**	= अधिदैव	**मधुसूदन**	= हे मधुसूदन!
किम्	= क्या है?	**किम्**	= किसको	**नियतात्मभिः**	= वशीभूत अन्तः-करणवाले मनुष्यके द्वारा
अध्यात्मम्	= अध्यात्म	**उच्यते**	= कहा जाता है?		
किम्	= क्या है?	**अत्र**	= यहाँ		
कर्म	= कर्म	**अधियज्ञः**	= अधियज्ञ	**प्रयाणकाले**	= अन्तकालमें (आप)
किम्	= क्या है?	**कः**	= कौन है?	**कथम्**	= कैसे
अधिभूतम्	= अधिभूत	**च**	= और (वह)	**ज्ञेयः**	= जाननेमें आते
किम्	= किसको	**अस्मिन्**	= इस	**असि**	= हैं?

व्याख्या—‘**पुरुषोत्तम किं तद्ब्रह्म**’—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है अर्थात् ‘ब्रह्म’ शब्दसे क्या समझना चाहिये?

‘**किमध्यात्मम्**’—‘अध्यात्म’ शब्दसे आपका क्या अभिप्राय है?

‘**किं कर्म**’—कर्म क्या है अर्थात् ‘कर्म’ शब्दसे आपका क्या भाव है?

‘**अधिभूतं च किं प्रोक्तम्**’—आपने जो ‘अधिभूत’ शब्द कहा है, उसका क्या तात्पर्य है?

‘**अधिदैवं किमुच्यते**’—‘अधिदैव’ किसको कहा जाता है?

‘**अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्**’—इस प्रकरणमें ‘अधियज्ञ’ शब्दसे किसको लेना चाहिये। वह ‘अधियज्ञ’ इस देहमें कैसे है?

‘**मधुसूदन प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**’—हे मधुसूदन! जो पुरुष वशीभूत

अन्त:करणवाले हैं अर्थात् जो संसारसे सर्वथा हटकर अनन्यभावसे केवल आपमें ही लगे हुए हैं, उनके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? अर्थात् वे आपके किस रूपको जानते हैं और किस प्रकारसे जानते हैं?

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुनके छः प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

परमम्	= परम		(जीव-) को	**करः**	= प्राणियोंकी सत्ता-
अक्षरम्	= अक्षर	**अध्यात्मम्**	= अध्यात्म		को प्रकट करनेवाला
ब्रह्म	= ब्रह्म है (और)	**उच्यते**	= कहते हैं।	**विसर्गः**	= त्याग
स्वभावः	= परा प्रकृति-	**भूतभावोद्भव-**		**कर्मसञ्ज्ञितः**	= कर्म कहा जाता है।

व्याख्या—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**'—परम अक्षरका नाम ब्रह्म है। यद्यपि गीतामें 'ब्रह्म' शब्द प्रणव, वेद, प्रकृति आदिका वाचक भी आया है, तथापि यहाँ 'ब्रह्म' शब्दके साथ 'परम' और 'अक्षर' विशेषण देनेसे यह शब्द सर्वोपरि, सच्चिदानन्दघन, अविनाशी, निर्गुण-निराकार परमात्माका वाचक है।

'**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**'—ऐसे तो आत्माको लेकर जो वर्णन किया जाता है, वह भी अध्यात्म है; अध्यात्म-मार्गका जिसमें वर्णन हो, वह मार्ग भी अध्यात्म है और इस आत्माकी जो विद्या है, उसका नाम भी अध्यात्म है (गीता—दसवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। परन्तु यहाँ 'स्वभाव' विशेषणके साथ 'अध्यात्म' शब्द आत्माका अर्थात् जीवके होनेपनका (स्वरूपका) वाचक है।

'**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः**'— स्थावर-जंगम जितने भी प्राणी देखनेमें आते हैं, उनका जो भाव अर्थात् होनापन है, उस होनेपनको प्रकट करनेके लिये जो विसर्ग अर्थात् त्याग है, उसको 'कर्म' कहते हैं।

महाप्रलयके समय प्रकृतिकी अक्रिय-अवस्था मानी जाती है तथा महासर्गके समय प्रकृतिकी सक्रिय-अवस्था मानी जाती है। इस सक्रिय-अवस्थाका कारण भगवान्‌का संकल्प है कि 'मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ।' इसी संकल्पसे सृष्टिकी रचना होती है। तात्पर्य है कि महाप्रलयके समय अहंकार और संचित कर्मोंके सहित प्राणी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और उन प्राणियोंके सहित प्रकृति एक तरहसे परमात्मामें लीन हो जाती है। उस लीन हुई प्रकृतिको विशेष क्रियाशील करनेके लिये भगवान्‌का पूर्वोक्त संकल्प ही विसर्ग अर्थात् त्याग है। भगवान्‌का यह संकल्प ही कर्मोंका आरम्भ है, जिससे प्राणियोंकी कर्म-परम्परा चल पड़ती है। कारण कि महाप्रलयमें प्राणियोंके कर्म नहीं बनते, प्रत्युत उसमें प्राणियोंकी सुषुप्त-अवस्था रहती है। महासर्गके आदिसे कर्म शुरू हो जाते हैं।

चौदहवें अध्यायमें आया है—परमात्माकी मूल प्रकृतिका नाम 'महद्ब्रह्म' है। उस प्रकृतिमें लीन हुए जीवोंका प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देना अर्थात् जीवोंका अपने-अपने कर्मोंके फलस्वरूप शरीरोंके साथ सम्बन्ध करा देना ही परमात्माके द्वारा प्रकृतिमें गर्भ-स्थापन करना है (गीता—चौदहवें अध्यायका तीसरा-चौथा श्लोक)। उसमें भी अलग-अलग योनियोंमें तरह-तरहके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन शरीरोंकी उत्पत्तिमें प्रकृति हेतु है और उनमें जीवरूपसे भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। इस प्रकार प्रकृति और पुरुषके अंशसे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं।

तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि स्थावर-जंगम जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ-(पुरुष-) के संयोगसे ही होते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विशेष संयोग अर्थात् स्थूलशरीर धारण करानेके लिये भगवान्‌का संकल्प-रूप विशेष सम्बन्ध ही स्थावर-जंगम प्राणियोंके स्थूलशरीर पैदा करनेका कारण है। उस संकल्पके होनेमें भगवान्‌का कोई अभिमान नहीं है, प्रत्युत जीवोंके जन्म-जन्मान्तरोंके जो कर्म-संस्कार हैं, वे

महाप्रलयके समय परिपक्व होकर जब फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, तब भगवान्‌का संकल्प होता है[1]। इस प्रकार जीवोंके कर्मोंकी प्रेरणासे भगवान्‌में 'मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ'—यह संकल्प होता है।

मनुष्यमात्रके द्वारा विहित और निषिद्ध जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सब क्रियाओंका नाम 'कर्म' है। तात्पर्य है कि मुख्य कर्म तो भगवान्‌का संकल्प हुआ और उसके बाद कर्म-परम्परा चलती है।

परिशिष्ट भाव—'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—'परा प्रकृति' भगवान्‌का स्वभाव है—**'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'** (गीता ७। ५)। प्रकृति कहो, चाहे स्वभाव कहो, एक ही बात है। यह परा प्रकृति अर्थात् जीव ही 'अध्यात्म' नामसे कहा गया है। इसको भगवान्‌ने अपना अंश भी बताया है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)।

'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' का दूसरा तात्पर्य है कि बालक, जवानी और वृद्धावस्थामें; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें; चौरासी लाख योनियोंमें, सर्ग और प्रलयमें, महासर्ग और महाप्रलयमें भी जीवका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६) अर्थात् इसका अपना भाव (सत्ता या होनापन) सदा विद्यमान रहता है।

सृष्टि-रचनारूप कर्मको 'त्याग' कहनेका तात्पर्य है कि इसमें अपनी स्थिरताका त्याग है। कारण कि तत्त्व स्थिर, अचल है और उस स्थिरताका त्याग ही कर्म है।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म ही आदि कर्म है[2], जिससे कर्मोंकी परम्परा चली है। अतः 'कर्म' के अन्तर्गत तीन प्रकारके कर्म आते हैं—(१) सृष्टिकी रचना (२) क्रियामात्र, जो फलजनक नहीं होती और (३) पाप-पुण्य (शुभाशुभ कर्म), जो फलजनक होते हैं।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म वास्तवमें 'अकर्म' ही है। भगवान्‌ने कहा भी है—**'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'** (गीता ४। १३) 'उस सृष्टि-रचनाका कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

देहभृताम्, वर	=हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**अधिभूतम्**	=अधिभूत हैं,	**अत्र**	= इस
क्षरः	= क्षर	**पुरुषः**	=पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा	**देहे**	= देहमें (अन्तर्यामीरूपसे)
भावः	= भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ	**अधिदैवतम्**	= अधिदैव हैं	**अहम्**	= मैं
		च	= और	**एव**	= ही
				अधियज्ञः	= अधियज्ञ हूँ।

व्याख्या—**'अधिभूतं क्षरो भावः'**—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पंचमहाभूतोंसे बनी प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् सृष्टिको अधिभूत कहते हैं।

'पुरुषश्चाधिदैवतम्'—यहाँ **'अधिदैवत'** (अधिदैव) पद आदिपुरुष हिरण्यगर्भ ब्रह्माका वाचक है। महासर्गके आदिमें भगवान्‌के संकल्पसे सबसे पहले ब्रह्माजी ही प्रकट होते हैं और फिर वे ही सर्गके आदिमें सब सृष्टिकी रचना करते हैं।

१-जैसे कर्म करते-करते थकावट होती है तो कर्तृत्वाभिमान, कर्मफलासक्ति और संचित कर्मोंके ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही प्राणियोंको नींद आ जाती है। नींदमें विश्राम पानेसे थकावट दूर होती है और कर्म करनेके लिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें ताजगी आती है, सामर्थ्य आती है। इसी रीतिसे प्राणी कर्तृत्वाभिमान, कर्मफलासक्ति और संचित कर्मोंके सहित प्रलयमें सूक्ष्म प्रकृतिमें और महाप्रलयमें कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। उन लीन हुए प्राणियोंके संचित कर्म विश्राम पाकर—परिपक्व होकर अर्थात् प्रारब्धरूप होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं। तब भगवान्‌का संकल्प होता है और उस संकल्पसे प्राणियोंका जन्मारम्भक कर्मोंके साथ विशेषतासे सम्बन्ध जुड़ जानेका नाम ही 'कर्म' है।

२-'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (गीता ४। १३), 'कल्पादौ विसृजाम्यहम्' (९। ७), विसृजामि पुनः पुनः' (९। ८), 'अहं बीजप्रदः पिता' (१४। ४)।

'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर'—हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस देहमें अधियज्ञ मैं ही हूँ अर्थात् इस मनुष्यशरीरमें अन्तर्यामीरूपसे मैं ही हूँ[1]। भगवान्‌ने गीतामें **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** (१३।१७), **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** (१५।१५), **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८।६१) आदिमें अपनेको अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान बताया है।

'अहमेव अत्र[2] देहे' कहनेका तात्पर्य है कि दूसरी योनियोंमें तो पूर्वकृत कर्मोंका भोग होता है, नये कर्म नहीं बनते, पर इस मनुष्यशरीरमें नये कर्म भी बनते हैं। उन कर्मोंके प्रेरक अन्तर्यामी भगवान् होते हैं[3]। जहाँ मनुष्य राग-द्वेष नहीं करता उसके सब कर्म भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार शुद्ध होते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते और जहाँ वह राग-द्वेषके कारण भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार कर्म नहीं करता, उसके कर्म बन्धनकारक होते हैं। कारण कि राग और द्वेष मनुष्यके महान् शत्रु हैं (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌की प्रेरणासे कभी निषिद्ध-कर्म होते ही नहीं। श्रुति और स्मृति भगवान्‌की आज्ञा है—**'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।'** अतः भगवान् श्रुति और स्मृतिके विरुद्ध प्रेरणा कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते। निषिद्ध-कर्म तो मनुष्य कामनाके वशीभूत होकर ही करता है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अगर मनुष्य कामनाके वशीभूत न हो, तो उसके द्वारा स्वाभाविक ही विहित कर्म होंगे, जिनको अठारहवें अध्यायमें सहज, स्वभावनियत कर्म नामसे कहा गया है।

यहाँ अर्जुनके लिये **'देहभृतां वर'** कहनेका तात्पर्य है कि देहधारियोंमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो 'इस देहमें परमात्मा हैं'—ऐसा जान लेता है। ऐसा ज्ञान न हो, तो भी ऐसा मान ले कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके कण-कणमें परमात्मा हैं और उनका अनुभव करना ही मनुष्य-जन्मका खास ध्येय है। इस ध्येयकी सिद्धिके लिये परमात्माकी आज्ञाके अनुसार ही काम करना है।

तीसरे और चौथे श्लोकमें जो ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका वर्णन हुआ है, उसे समझनेमात्रके लिये जलका एक दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे, जब आकाश स्वच्छ होता है, तब हमारे और सूर्यके मध्यमें कोई पदार्थ न दीखनेपर भी वास्तवमें वहाँ परमाणुरूपसे जल-तत्त्व रहता है। वही जल-तत्त्व भाप बनता है और भापके घनीभूत होनेपर बादल बनता है। बादलमें जो जलकण रहते हैं, उनके मिलनेसे बूँदें बन जाती हैं। उन बूँदोंमें जब ठण्डकके संयोगसे घनता आ जाती है, तब वे ही बूँदें ओले (बर्फ) बन जाती हैं—यह जल-तत्त्वका बहुत स्थूल रूप हुआ। ऐसे ही निर्गुण-निराकार 'ब्रह्म' परमाणुरूपसे जल-तत्त्व है, 'अधियज्ञ' (व्यापक विष्णु) भापरूपसे जल है; 'अधिदैव' (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा) बादलरूपसे जल है, 'अध्यात्म' (अनन्त जीव) बूँदें-रूपसे जल है, 'कर्म' (सृष्टि-रचनारूप कर्म) वर्षाकी क्रिया है और 'अधिभूत' (भौतिक सृष्टिमात्र) बर्फरूपसे जल है।

इस वर्णनका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे एक ही जल परमाणु, भाप, बादल, वर्षाकी क्रिया, बूँदें और ओले-(बर्फ-) के रूपसे भिन्न-भिन्न दीखता है, पर वास्तवमें है एक ही। इसी प्रकार एक ही परमात्मतत्त्व ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके रूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी तत्त्वतः एक ही है। इसीको सातवें अध्यायमें **'समग्रम्'** (७।१) और **'वासुदेवः सर्वम्'** (७।१९) कहा गया है।

तात्त्विक दृष्टिसे तो सब कुछ वासुदेव ही है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। इसमें भी जब विवेक-दृष्टिसे देखते हैं, तब शरीर-शरीरी, प्रकृति-पुरुष—ऐसे दो भेद हो जाते हैं। उपासनाकी दृष्टिसे देखते हैं तो उपास्य (परमात्मा), उपासक (जीव) और त्याज्य

१-यहाँ इस मनुष्य-शरीरमें कहनेका तात्पर्य है कि इसमें भगवान्‌की प्रेरणाको समझनेकी, स्वीकार करनेकी और उसके अनुसार आचरण करके तत्त्वको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य है। अन्य शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे परमात्माके रहते हुए भी उन प्राणियोंमें उस तत्त्वकी तरफ दृष्टि डालनेकी सामर्थ्य नहीं है और मनुष्यशरीरमें जो विवेक प्राप्त है, वह विवेक उन शरीरोंमें जाग्रत् नहीं है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस शरीरके रहते-रहते उस तत्त्वको प्राप्त कर ले। इस दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न जाने दे।

२-दूसरे श्लोकमें तो 'अत्र' पद प्रकरणके लिये आया है, तथा 'अस्मिन्' पद देहके लिये आया है, पर यहाँ 'अत्र' पद देहके लिये ही आया है। कारण कि अर्जुनने प्रश्नमें 'अत्र' पद देकर प्रकरणका संकेत कर दिया है, इसलिये अब उसका उत्तर देते हुए प्रकरणके लिये 'अत्र' पद देनेकी जरूरत नहीं है।

३-कर्मोंकी प्रेरणा भगवान् मनुष्यके स्वभावके अनुसार करते हैं। यदि स्वभावमें राग-द्वेष है तो उस राग-द्वेषके वशीभूत होना अथवा न होना मनुष्यके हाथमें है। वह शास्त्र, सन्त तथा भगवान्‌का आश्रय लेकर अपने स्वभावको बदल सकता है।

(प्रकृतिका कार्य—संसार)—ये तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनोंको समझनेके लिये यहाँ इनके छः भेद किये गये हैं—

परमात्माके दो भेद—ब्रह्म (निर्गुण) और अधियज्ञ (सगुण)।

जीवके दो भेद—अध्यात्म (सामान्य जीव, जो कि बद्ध हैं) और अधिदैव (कारक पुरुष, जो कि मुक्त हैं)।

संसारके दो भेद—कर्म (जो कि परिवर्तनका पुंज है) और अधिभूत (जो कि पदार्थ हैं)।

विशेष बात

(१)

सब संसारमें परमात्मा व्याप्त हैं—‘**मया ततमिदं सर्वम्**’ (९। ४), ‘**येन सर्वमिदं ततम्**’ (१८। ४६); सब संसार परमात्मामें है—‘**मयि सर्वमिदं प्रोतम्**’ (७। ७); सब कुछ परमात्मा ही हैं—‘**वासुदेवः सर्वम्**’ (७। १९); सब संसार परमात्माका है—‘**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**’ (९। २४), ‘**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्**’ (५। २९)—इस प्रकार गीतामें भगवान्‌के तरह-तरहके वचन आते हैं। इन सबका सामंजस्य कैसे हो? सबकी संगति कैसे बैठे? इसपर विचार किया जाता है।

संसारमें परमात्मप्राप्तिके लिये, अपने कल्याणके लिये साधना करनेवाले जितने भी साधक* हैं, वे सभी संसारसे छूटना चाहते हैं और परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे सदा रहनेवाली शान्ति और सुख नहीं मिल सकता, प्रत्युत सदा अशान्ति और दुःख ही मिलता रहता है—ऐसा मनुष्योंका प्रत्यक्ष अनुभव है। परमात्मा अनन्त आनन्दके स्वरूप हैं, वहाँ दुःखका लेश भी नहीं है—ऐसा शास्त्रोंका कथन है और सन्तोंका अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि साधकको संसार तो प्रत्यक्षरूपसे दीखता है और परमात्माको वह केवल मानता है; क्योंकि परमात्मा प्रत्यक्ष दीखते नहीं। शास्त्र और सन्त कहते हैं कि ‘संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है’ इसको मानकर साधक साधन करता है। उस साधनामें जबतक संसारकी मुख्यता रहती है, तबतक परमात्माकी मान्यता गौण रहती है। साधन करते-करते ज्यों-ज्यों परमात्माकी धारणा (मान्यता) मुख्य होती चली जाती है, त्यों-ही-त्यों संसारकी मान्यता गौण होती चली जाती है। परमात्माकी धारणा सर्वथा मुख्य होनेपर साधकको यह स्पष्ट दीखने लग जाता है कि संसार पहले नहीं था और फिर बादमें नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें जो ‘है’ रूपसे दीखता है, वह भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। जब संसार नहीं था, तब भी परमात्मा थे; जब संसार नहीं रहेगा, तब भी परमात्मा रहेंगे और वर्तमानमें संसारके प्रतिक्षण अभावमें जाते हुए भी परमात्मा ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। तात्पर्य है कि संसारका सदा अभाव है और परमात्माका सदा भाव है। इस तरह जब संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब सत्यस्वरूपसे ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—ऐसा वास्तविक अनुभव हो जाता है, जिसके होनेसे साधक ‘सिद्ध’ कहा जाता है। कारण कि ‘संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है’—ऐसी मान्यता संसारकी सत्ता

*** सदा रहनेवाली शान्ति और अनन्त सुख मिले, जिसमें अशान्ति और दुःखका लेश भी न हो—ऐसा विचार करनेवाले ‘साधक’ होते हैं। परन्तु जो संसारमें ही रहना चाहते हैं, संसारसे ही सुख लेना चाहते हैं, सांसारिक संग्रह और भोगोंमें ही लगे रहना चाहते हैं और संसारके सुख-दुःखको भोगते रहते हैं, वे साधक नहीं होते, प्रत्युत ‘संसारी’ होते हैं। वे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं।**

माननेसे ही होती थी और संसारकी सत्ता साधकके रागके कारण ही दीखती थी। तत्त्वत: सब कुछ परमात्मा ही हैं।

(२)

सत् और असत् सब परमात्मा ही हैं—**'सदसच्चाहम्'** (९। १९), परमात्मा न सत् कहे जा सकते हैं और न असत् कहे जा सकते हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३। १२); परमात्मा सत् भी हैं; असत् भी हैं और सत्-असत् दोनोंसे परे भी हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११। ३७)। इस प्रकार गीतामें भिन्न-भिन्न वचन आते हैं। अब उनकी संगतिके विषयमें विचार किया जाता है।

परमात्मतत्त्व अत्यन्त अलौकिक और विलक्षण है। उस तत्त्वका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। उस तत्त्वको इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि नहीं पकड़ सकते अर्थात् वह तत्त्व इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिकी परिधिमें नहीं आता। हाँ, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसमें विलीन हो सकते हैं। साधक उस तत्त्वमें स्वयं लीन हो सकता है, उसको प्राप्त कर सकता है, पर उस तत्त्वको अपने कब्जेमें, अपने अधिकारमें, अपनी सीमामें नहीं ले सकता।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधक दो तरहके होते हैं—एक विवेकप्रधान और एक श्रद्धाप्रधान अर्थात् एक मस्तिष्कप्रधान होता है और एक हृदयप्रधान होता है। विवेकप्रधान साधकके भीतर विवेककी अर्थात् जाननेकी मुख्यता रहती है और श्रद्धाप्रधान साधकके भीतर माननेकी मुख्यता रहती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विवेक-प्रधान साधकमें श्रद्धा नहीं रहती और श्रद्धाप्रधान साधकमें विवेक नहीं रहता, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि विवेकप्रधान साधकमें विवेककी मुख्यता और साथमें श्रद्धा रहती है, तथा श्रद्धाप्रधान साधकमें श्रद्धाकी मुख्यता और साथमें विवेक रहता है। दूसरे शब्दोंमें, जाननेवालोंमें मानना भी रहता है और माननेवालोंमें जानना भी रहता है। जाननेवाले जानकर मान लेते हैं और माननेवाले मानकर जान लेते हैं। अत: किसी भी तरहके साधकमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रहती।

साधक चाहे विवेकप्रधान हो, चाहे श्रद्धाप्रधान हो, पर साधनमें उसकी अपनी रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यताकी प्रधानता रहती है। रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यता एक साधनमें होनेसे साधक उस तत्त्वको जल्दी समझता है। परन्तु रुचि और श्रद्धा-विश्वास होनेपर भी वैसी योग्यता न हो अथवा योग्यता होनेपर भी वैसी रुचि और श्रद्धा-विश्वास न हो, तो साधकको उस साधनमें कठिनता पड़ती है। रुचि होनेसे मन स्वाभाविक लग जाता है, श्रद्धा-विश्वास होनेसे बुद्धि स्वाभाविक लग जाती है और योग्यता होनेसे बात ठीक समझमें आ जाती है।

विवेकप्रधान साधक निर्गुण-निराकारको पसंद करता है अर्थात् उसकी रुचि निर्गुण-निराकारमें होती है। श्रद्धाप्रधान साधक सगुण-साकारको पसंद करता है अर्थात् उसकी रुचि सगुण-साकारमें होती है। जो निर्गुण-निराकारको पसंद करता है, वह यह कहता है कि परमात्मतत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है। जो सगुण-साकारको पसंद करता है वह कहता है कि परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से परे भी हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि चिन्मय-तत्त्व तो हरदम ज्यों-का-त्यों ही रहता है और जड, असत् कहलानेवाला संसार निरन्तर बदलता रहता है। जब यह चेतन जीव बदलते हुए संसारको महत्त्व देता है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब यह जन्म-मरणके चक्करमें घूमता रहता है। परन्तु जब यह जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब इसको स्वत:सिद्ध चिन्मय-तत्त्वका अनुभव हो जाता है। विवेकप्रधान साधक विवेक-विचारके द्वारा जडताका त्याग करता है। जडताका त्याग होनेपर चिन्मय-तत्त्व अवशेष रहता है अर्थात् नित्यप्राप्त तत्त्वका अनुभव हो जाता है। श्रद्धाप्रधान साधक केवल भगवान्‌के ही सम्मुख हो जाता है, जिससे वह जडतासे विमुख होकर भगवान्‌को प्रेमपूर्वक प्राप्त कर लेता है। विवेकप्रधान साधक तो सम, शान्त, सत्-घन, चित्-घन, आनन्द-घन तत्त्वमें अटल स्थित होकर अखण्ड आनन्दको प्राप्त होता है; पर श्रद्धाप्रधान साधक भगवान्‌के साथ अभिन्न होकर प्रेमके अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्दको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार दोनों ही साधकोंको जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक चिन्मय-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और 'सत्-असत् अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—परिवर्तनशील एवं नाशवान् क्रिया और पदार्थमात्र 'क्षरभाव' हैं, जो भगवान्‌की अपरा प्रकृति है।

ज्ञानमें ब्रह्मके साथ एकता होती है और प्रेममें अन्तर्यामी भगवान्‌के साथ अभिन्नता होती है। भगवान्‌ने यहाँ अन्तर्यामी-(अधियज्ञ-) को अपना स्वरूप बताया है। अत: ब्रह्म तो विशेषण है और अन्तर्यामी विशेष्य है—**'ब्रह्मणो**

हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४। २७)। तात्पर्य है कि जिसको गीताने 'समग्र' कहा है, वह सबका रचयिता और नियन्ता अन्तर्यामी मैं ही हूँ। इसी अन्तर्यामीको चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें '**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्**' और '**अहं बीजप्रदः पिता**' पदोंमें '**अहम्**' शब्दसे कहा गया है। गीतामें ब्रह्मके लिये कहा है—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३। १२) और समग्र भगवान्‌के लिये कहा है—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९), '**सदसत्तत्परं यत्**' (११। ३७)।

सम्बन्ध—दूसरे श्लोकमें अर्जुनका सातवाँ प्रश्न था कि अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

यः	= जो मनुष्य	**मुक्त्वा**	= छोड़कर	**याति**	= प्राप्त होता है,
अन्तकाले	= अन्तकालमें	**प्रयाति**	= जाता है,	**अत्र**	= इसमें
च	= भी	**सः**	= वह	**संशयः**	= सन्देह
माम्	= मेरा	**मद्भावम्**	= मेरे स्वरूपको	**न**	= नहीं
स्मरन्	= स्मरण करते हुए	**एव**	= ही	**अस्ति**	= है।
कलेवरम्	= शरीर				

व्याख्या—'**अन्तकाले च* मामेव .... याति नास्त्यत्र संशयः**'—'अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए जो शरीर छोड़कर जाता है'—इसका तात्पर्य हुआ कि इस मनुष्यको जीवनमें साधन-भजन करके अपना उद्धार करनेका अवसर दिया था, पर इसने कुछ किया ही नहीं। अब बेचारा यह मनुष्य अन्तकालमें दूसरा साधन करनेमें असमर्थ है, इसलिये बस, मेरेको याद कर ले तो इसको मेरी प्राप्ति हो जायगी।

'**मामेव स्मरन्**' का तात्पर्य है कि सुनने, समझने और माननेमें जो कुछ आता है, वह सब मेरा समग्ररूप है। अतः जो उसको मेरा ही स्वरूप मानेगा उसको अन्तकालमें भी मेरा ही चिन्तन होगा अर्थात् उसने जब सब कुछ मेरा ही स्वरूप मान लिया तो अन्तकालमें उसको जो कुछ याद आयेगा, वह मेरा ही स्वरूप होगा, इसलिये वह स्मरण मेरा ही होगा। मेरा स्मरण होनेसे उसको मेरी ही प्राप्ति होगी।

'**मद्भावम्**' कहनेका तात्पर्य है कि साधकने मेरेको जिस-किसी भिन्न अथवा अभिन्न भावसे अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज-चतुर्भुज तथा नाम, लीला, धाम, रूप आदिसे स्वीकार किया है, मेरी उपासना की है, अन्तसमयके स्मरणके अनुसार वह मेरे उसी भावको प्राप्त होता है।

जो भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे तो अन्तसमयमें उपास्यका स्मरण होनेसे उसी उपास्यको अर्थात् भगवद्भावको प्राप्त होते हैं। परन्तु जो उपासना नहीं करते, उनको भी अन्तसमयमें किसी कारणवशात् भगवान्‌के किसी नाम, रूप, लीला, धाम आदिका स्मरण हो जाय, तो वे भी उन उपासकोंकी तरह उसी भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य है कि जैसे गुणोंमें स्थित रहनेवालेकी (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) और अन्तकालमें जिस-किसी गुणके बढ़नेवालेकी वैसी ही गति होती है (गीता—चौदहवें अध्यायका चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ श्लोक), ऐसे ही जिसको अन्तमें भगवान् याद आ जाते हैं, उसकी भी उपासकोंकी तरह गति होती है अर्थात् भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि अनेक रूपोंका और नाम, लीला, धाम आदिका भेद तो साधकोंकी दृष्टिसे है, अन्तमें सब एक हो जाते हैं अर्थात् अन्तमें सब एक 'मद्भाव'—भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌का समग्र स्वरूप एक ही है। परन्तु गुणोंके अनुसार गतिको प्राप्त होनेवाले अन्तमें एक नहीं हो सकते; क्योंकि

*** यहाँ 'च' अव्ययका अर्थ 'अपि' अर्थात् 'भी' है।**

तीनों गुण (सत्त्व, रज, तम) अलग-अलग हैं। अत: गुणोंके अनुसार उनकी गतियाँ भी अलग-अलग होती हैं।

भगवान्‌का स्मरण करके शरीर छोड़नेवालोंका तो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है और गुणोंके अनुसार शरीर छोड़नेवालोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध रहता है। इसलिये अन्तमें भगवान्‌का स्मरण करनेवाले भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं और गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले गुणोंके सम्मुख हो जाते हैं अर्थात् गुणोंके कार्य जन्म-मरणको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्‌ने एक यह विशेष छूट दी हुई है कि मरणासन्न व्यक्तिके कैसे ही आचरण रहे हों, कैसे ही भाव रहे हों, किसी भी तरहका जीवन बीता हो, पर अन्तकालमें वह भगवान्‌को याद कर ले तो उसका कल्याण हो जायगा। कारण कि भगवान्‌ने जीवका कल्याण करनेके लिये ही उसको मनुष्यशरीर दिया है और जीवने उस मनुष्यशरीरको स्वीकार किया है। अत: जीवका कल्याण हो जाय, तभी भगवान्‌का इस जीवको मनुष्यशरीर देना और जीवका मनुष्यशरीर लेना सफल होगा। परन्तु वह अपना उद्धार किये बिना ही आज दुनियासे विदा हो रहा है, इसके लिये भगवान् कहते हैं कि 'भैया! तेरी और मेरी दोनोंकी इज्जत रह जाय, इसलिये अब जाते-जाते (अन्तकालमें) भी तू मेरेको याद कर ले तो तेरा कल्याण हो जाय!' अत: हरेक मनुष्यके लिये सावधान होनेकी जरूरत है कि वह सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करे, कोई समय खाली न जाने दे; क्योंकि अन्तकालका पता नहीं है कि कब आ जाय। वास्तवमें सब समय अन्तकाल ही है। यह बात तो है नहीं कि इतने वर्ष, इतने महीने और इतने दिनोंके बाद मृत्यु होगी। देखनेमें तो यही आता है कि गर्भमें ही कई बालक मर जाते हैं, कई जन्मते ही मर जाते हैं, कई कुछ दिनोंमें, महीनोंमें, वर्षोंमें मर जाते हैं। इस प्रकार मरनेकी चाल हरदम चल ही रही है। अत: सब समयमें भगवान्‌को याद रखना चाहिये और यही समझना चाहिये कि बस, यही अन्तकाल है! नीतिमें यह बात आती है कि अगर धर्मका आचरण करना हो, कल्याण करना हो तो मृत्युने मेरे केश पकड़े हुए हैं; झटका दिया कि खत्म! ऐसा विचार हरदम रहना चाहिये—'**गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।**'

भगवान्‌की उपर्युक्त छूटसे मनुष्यमात्रको विशेष लाभ लेना चाहिये। कहीं कोई भी व्याधिग्रस्त, मरणासन्न व्यक्ति हो तो उसके इष्टके चित्र या मूर्तिको उसे दिखाना चाहिये; जैसी उसकी उपासना है और जिस भगवन्नाममें उसकी रुचि हो, जिसका वह जप करता हो, वही भगवन्नाम उसको सुनाना चाहिये; जिस स्वरूपमें उसकी श्रद्धा और विश्वास हो, उसकी याद दिलानी चाहिये; भगवान्‌की महिमाका वर्णन करना चाहिये; गीताके श्लोक सुनाने चाहिये। अगर वह बेहोश हो जाय तो उसके पास भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये, जिससे उस मरणासन्न व्यक्तिके सामने भगवत्सम्बन्धी वायुमण्डल बना रहे। भगवत्सम्बन्धी वायुमण्डल रहनेसे वहाँ यमराजके दूत नहीं आ सकते। अजामिलके द्वारा मृत्युके समय 'नारायण' नामका उच्चारण करनेसे वहाँ भगवान्‌के पार्षद आ गये और यमदूत भागकर यमराजके पासमें गये, तो यमराजने अपने दूतोंसे कहा कि 'जहाँ भगवन्नामका जप, कीर्तन, कथा आदि होते हों, वहाँ तुमलोग कभी मत जाना; क्योंकि वहाँ हमारा राज्य नहीं है[१]।' ऐसा कहकर यमराजने भगवान्‌का स्मरण करके भगवान्‌से क्षमा माँगी कि 'मेरे दूतोंके द्वारा जो अपराध हुआ है, उसको आप क्षमा करें[२]।'

अन्तकालमें स्मरणका तात्पर्य है कि उसने भगवान्‌का जो स्वरूप मान रखा है, उसकी याद आ जाय अर्थात् उसने पहले राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, सर्वव्यापक विश्वरूप परमात्मा आदिमेंसे जिस स्वरूपको मान रखा है, उस स्वरूपके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव आदिकी याद आ जाय। उसकी याद करते हुए शरीरको छोड़कर जानेसे वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। कारण कि भगवान्‌की याद आनेसे 'मैं' शरीर हूँ और शरीर 'मेरा' है—इसकी याद नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान्‌को ही याद करते हुए शरीर छूट जाता है। इसलिये उसके लिये भगवान्‌को प्राप्त होनेके अतिरिक्त और कोई गुंजाइश ही नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि जिस व्यक्तिने उम्रभरमें भजन-स्मरण नहीं किया, कोई साधन नहीं किया, सर्वथा

१-एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥ (श्रीमद्भा० ६। ३। २६)

२-तत्क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः।
स्वानामहो न विदुषां रचितांजलीनां क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने॥ (श्रीमद्भा० ६। ३। ३०)

भगवान्‌से विमुख रहा, उसको अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण कैसे होगा और उसका कल्याण कैसे होगा? इसका समाधान है कि अन्तसमयमें उसपर भगवान्‌की कोई विशेष कृपा हो जाय अथवा उसको किसी सन्तके दर्शन हो जायँ तो भगवान्‌का स्मरण होकर उसका कल्याण हो जाता है। उसके कल्याणके लिये कोई साधक उसको भगवान्‌का नाम, लीला, चरित्र सुनाये, पद गाये तो भगवान्‌का स्मरण होनेसे उसका कल्याण हो जाता है। अगर मरणासन्न व्यक्तिको गीतामें रुचि हो तो उसको गीताका आठवाँ अध्याय सुनाना चाहिये; क्योंकि इस अध्यायमें जीवकी सद्‌गतिका विशेषतासे वर्णन आया है। इसको सुननेसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो जाती है। कारण कि वास्तवमें परमात्माका ही अंश होनेसे उसका परमात्माके साथ स्वत: सम्बन्ध है ही। अगर अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी आदि किसी तीर्थस्थलमें उसके प्राण छूट जायँ तो उस तीर्थके प्रभावसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो जायगी[१]। ऐसे ही जिस जगह भगवान्‌के नामका जप, कीर्तन, कथा, सत्संग आदि होता है, उस जगह उसकी मृत्यु हो जाय तो वहाँके पवित्र वायुमण्डलके प्रभावसे उसको भगवान्‌की स्मृति हो सकती है। अन्तकालमें कोई भयंकर स्थिति आनेसे भयभीत होनेपर भी भगवान्‌की याद आ सकती है। शरीर छूटते समय शरीर, कुटुम्ब, रुपये आदिकी आशा-ममता छूट जाय और यह भाव हो जाय कि 'हे नाथ! आपके बिना मेरा कोई नहीं है, केवल आप ही मेरे हैं' तो भगवान्‌की स्मृति होनेसे कल्याण हो जाता है। ऐसे ही किसी कारणसे अचानक अपने कल्याणका भाव बन जाय, तो भी कल्याण हो सकता है[२]। ऐसे ही कोई साधक किसी प्राणी, जीव-जन्तुके मृत्युसमयमें 'उसका कल्याण हो जाय' इस भावसे उसको भगवन्नाम सुनाता है, तो उस भगवन्नामके प्रभावसे उस प्राणीका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें तो सन्त-महापुरुषोंके प्रभावकी विचित्र बातें आती हैं कि यदि सन्त-महापुरुष किसी मरणासन्न व्यक्तिको देख लें अथवा उसके मृत शरीर-(मुर्दे-) को देख लें अथवा उसकी चिताके धुएँको देख लें अथवा चिताकी भस्मको देख लें, तो भी उस जीवका कल्याण हो जाता है[३]!

मार्मिक बात

इस अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें ब्रह्म, अध्यात्म आदि जिन छ: बातोंका वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य समग्ररूपसे है; और समग्ररूपका तात्पर्य है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ वासुदेव ही है। जिसको समग्ररूपका ज्ञान हो गया है, उसके लिये अन्तकालके स्मरणकी बात ही नहीं की जा सकती। कारण कि जिसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता न होकर सब कुछ वासुदेव ही है, उसके लिये 'अन्तकालमें भगवान्‌का चिन्तन करें' यह कहना ही नहीं बनता। जैसे सामान्य मनुष्यको 'मैं हूँ' इस अपने होनेपनका किंचिन्मात्र भी स्मरण नहीं करना पड़ता, ऐसे ही उस महापुरुषको भगवान्‌का स्मरण नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसको जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें भगवान्‌के होनेपनका स्वाभाविक अटल ज्ञान रहता है।

पवित्र-से-पवित्र अथवा अपवित्र-से-अपवित्र किसी भी देशमें; उत्तरायण-दक्षिणायन, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, दिन-रात्रि, प्रात:-सायं आदि किसी भी कालमें; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, रुग्णता, नीरोगता आदि किसी भी अवस्थामें; और पवित्र अथवा अपवित्र कोई भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि सामने होनेपर भी उस महापुरुषके कल्याणमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता!

उपर्युक्त महापुरुषोंके सिवाय परमात्माकी उपासना

१-अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥
(नारदपुराण, पूर्व० २७। ३५)

२-एक बार एक सज्जन गंगाजीसे होकर आये थे और सबको गंगाजलका आचमन दे रहे थे। वहाँ एक व्यक्ति खड़ा था; उसको जब वे आचमन देने लगे तो उसने कहा—मेरे पाप बहुत हैं, मेरी जानकारीमें मैंने बहुत पाप किये हैं, इसलिये इतने थोड़े गंगाजलसे मेरे पाप कैसे कट जायँगे? मेरा कल्याण कैसे हो जायगा? तो उससे पूछा—कितना चाहिये? उसने कहा—लोटाभर दो। उस सज्जनने उसे लोटाभर गंगाजल दे दिया। उसने उस लोटाभर गंगाजलको पी लिया और कहा—अब मेरे पाप नहीं रहेंगे! यह सब घटना वहाँके एक भाईने सुनी थी। बादमें उस भाईने बताया कि वह व्यक्ति जब मरा, तब उसके प्राण दसवें द्वारको फोड़कर निकले, अर्थात् उसका कल्याण हो गया।

३-महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः। परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम। यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
(नारदपुराण, पूर्व० १। ७। ७४-७५)

करनेवाले जितने भी साधक हैं, वे चाहे साकारके उपासक हों अथवा निराकारके उपासक हों; चाहे सगुणके उपासक हों अथवा निर्गुणके उपासक हों; चाहे राम, कृष्ण आदि अवतारोंके उपासक हों; भगवान्‌के किसी भी नाम, रूप, लीला, धाम आदिकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना करनेवाले क्यों न हों, उन सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार अन्तसमयमें भगवान्‌के किसी भी स्वरूप, नाम आदिका स्मरण हो जाय, तो वह भगवान्‌का ही स्मरण है।

साधकोंके सिवाय जिन मनुष्योंमें 'भगवान् हैं' ऐसा सामान्य आस्तिक-भाव है और वे किसी उपासना-विशेषमें नहीं लगे हैं, उनको भी अन्तसमयमें कई कारणोंसे भगवान्‌का स्मरण हो सकता है। जैसे, जीवनमें उसने सुना हुआ है कि दु:खीके दु:खको भगवान् मिटाते हैं, इस संस्कारसे अन्तसमयकी पीड़ा-(दु:ख-)के समय भगवान्‌की याद आ सकती है। अन्तसमयमें अगर यमदूत दिखायी दे जायँ, तो भयके कारण भगवान्‌का स्मरण हो सकता है। कोई सज्जन उसके सामने भगवान्‌का चित्र रख दे—उसको दिखा दे, उसको भगवन्नाम सुना दे, भगवान्‌की लीला-कथा सुना दे, भक्तोंके चरित्र सुना दे, उसके सामने कीर्तन करने लग जाय, तो उसको भगवान्‌की याद आ जायगी। इस प्रकार किसी भी कारणसे भगवान्‌की तरफ वृत्ति होनेसे वह स्मरण भगवान्‌का ही स्मरण है।

ऐसे साधक और सामान्य मनुष्योंके लिये ही अन्तकालमें भगवत्स्मरणकी बात कही जाती है, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये नहीं।

परिशिष्ट भाव—जो मनुष्य शरीरके रहते-रहते अपना उद्धार नहीं कर सका, वह यदि अन्तकालमें भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए शरीर छोड़े तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर जो सब समय भगवान्‌का स्मरण करता है, वह अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करके भगवान्‌को प्राप्त हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है! भगवान्‌ने मनुष्यको (अपना उद्धार करनेकी) बहुत स्वतन्त्रता दी है, छूट दी है कि किसी तरहसे उसका कल्याण हो जाय। यह भगवान्‌की मनुष्यपर बहुत विशेष कृपा है!

सम्बन्ध—अन्तकालमें जो मेरा स्मरण करते हैं, वे तो मेरेको ही प्राप्त होते हैं, पर जो मेरा स्मरण न करके अन्य किसीका स्मरण करते हैं, वे किसको प्राप्त होते हैं—इसे भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	**स्मरन्**	= स्मरण करते हुए		होता हुआ
अन्ते	= (मनुष्य) अन्तकालमें	**कलेवरम्**	= शरीर	**तम्, तम्**	= उस-उसको
यम्, यम्,	= जिस-जिस	**त्यजति**	= छोड़ता है	**एव**	= ही
वा, अपि	= भी	**सदा, तद्भावभावितः**	= वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित	**एति**	= प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।
भावम्	= भावका				

व्याख्या—**'यं यं वापि स्मरन्भावं ...... सदा तद्भावभावितः'**—भगवान्‌ने इस नियममें दयासे भरी हुई एक विलक्षण बात बतायी है कि अन्तिम चिन्तनके अनुसार मनुष्यको उस-उस योनिकी प्राप्ति होती है जब यह नियम है, तो मेरी स्मृतिसे मेरी प्राप्ति होगी ही! परम दयालु भगवान्‌ने अपने लिये अलग कोई विशेष नियम नहीं बताया है, प्रत्युत सामान्य नियममें ही अपनेको शामिल कर दिया है। भगवान्‌की दयाकी यह कितनी विलक्षणता है कि जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिले, उतने ही मूल्यमें भगवान् मिल जायँ!

'सदा तद्भावभावितः' का तात्पर्य है कि अन्तकालमें जिस भावका—जिस किसीका चिन्तन होता है, शरीर छोड़नेके बाद वह जीव जबतक दूसरा शरीर धारण नहीं कर लेता, तबतक वह उसी भावसे भावित रहता है अर्थात्

अन्तकालका चिन्तन (स्मरण) वैसा ही स्थायी बना रहता है। अन्तकालके उस चिन्तनके अनुसार ही उसका मानसिक शरीर बनता है और मानसिक शरीरके अनुसार ही वह दूसरा शरीर धारण करता है। कारण कि अन्तकालके चिन्तनको बदलनेके लिये वहाँ कोई मौका नहीं है, शक्ति नहीं है और बदलनेकी स्वतन्त्रता भी नहीं है तथा नया चिन्तन करनेका कोई अधिकार भी नहीं है। अत: वह उसी चिन्तनको लिये हुए उसीमें तल्लीन रहता है। फिर उसका जिस किसीके साथ कर्मोंका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है, वायु, जल, खाद्य-पदार्थ आदिके द्वारा वह वहीं पुरुष-जातिमें प्रविष्ट होता है। फिर पुरुष-जातिसे स्त्री-जातिमें जाकर समयपर जन्म लेता है। जैसे, कुत्तेका पालन करनेवाला कोई मनुष्य अन्तसमयमें कुत्तेको याद करते हुए शरीर छोड़ता है, तो उसका मानसिक शरीर कुत्तेका बन जाता है, जिससे वह क्रमश: कुत्ता ही बन जाता है अर्थात् कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है। इस तरह अन्तकालमें जिस किसीका स्मरण होता है, उसीके अनुसार जन्म लेना पड़ता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मकानको याद करते हुए शरीर छोड़नेसे मकान बन जायगा, धनको याद करते हुए शरीर छोड़नेसे धन बन जायगा आदि। प्रत्युत मकानका चिन्तन होनेसे वह उस मकानमें चूहा, छिपकली आदि बन जायगा और धनका चिन्तन होनेसे वह साँप बन जायगा आदि। तात्पर्य यह हुआ कि अन्तकालके चिन्तनका नियम सजीव प्राणियोंके लिये ही है, निर्जीव (जड) पदार्थोंके लिये नहीं। अत: जड पदार्थका चिन्तन होनेसे वह उससे सम्बन्धित कोई सजीव प्राणी बन जायगा।

मनुष्येतर (पशु, पक्षी आदि) प्राणियोंको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही अन्तकालमें स्मरण होता है और उसीके अनुसार उनका अगला जन्म होता है। इस तरह अन्तकालके स्मरणका कानून सब जगह लागू पड़ता है। परन्तु मनुष्यशरीरमें यह विशेषता है कि उसका अन्तकालका स्मरण कर्मोंके अधीन नहीं है, प्रत्युत पुरुषार्थके अधीन है। पुरुषार्थमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। तभी तो अन्य योनियोंकी अपेक्षा इसकी अधिक महिमा है।

मनुष्य इस शरीरमें स्वतन्त्रतापूर्वक जिससे सम्बन्ध जोड़ लेता है, उस सम्बन्धके अनुसार ही उसका अन्य योनियोंमें जन्म हो सकता है। परन्तु अन्तकालमें अगर वह भगवान्‌का स्मरण कर ले तो उसके सारे सम्बन्ध टूट जाते हैं। कारण कि वे सब सम्बन्ध वास्तविक नहीं हैं, प्रत्युत वर्तमानके बनाये हुए कृत्रिम हैं, जब कि भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्वत:सिद्ध है, बनाया हुआ नहीं है। अत: भगवान्‌की याद आनेसे उसके सारे कृत्रिम सम्बन्ध टूट जाते हैं।

विशेष बात

(१)

दूसरे जन्मकी प्राप्ति अन्तकालमें हुए चिन्तनके अनुसार होती है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे प्राय: वैसा ही चिन्तन होता है। जैसे, जिसका कुत्ते पालनेका स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे कुत्तेका चिन्तन होता है। वह चिन्तन आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित (विशेष शक्तियुक्त) ध्वनिकी तरह सब जगह फैल जाता है। जैसे आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित ध्वनि रेडियोके द्वारा (किसी विशेष नंबरपर) पकड़में आ जाती है। ऐसे ही अन्तकालीन कुत्तेका चिन्तन सम्बन्धित कुत्तेके द्वारा (जिसके साथ कोई ऋणानुबन्ध अथवा कर्मों आदिका कोई-न-कोई सम्बन्ध है) पकड़में आ जाता है। फिर जीव सूक्ष्म और कारणशरीरको साथ लिये अन्न, जल, वायु (श्वास) आदिके द्वारा उस कुत्तेमें प्रविष्ट हो जाता है। फिर कुतियामें प्रविष्ट होकर गर्भ बन जाता है और निश्चित समयपर कुत्तेके शरीरसे जन्म लेता है।

अन्तकालीन चिन्तन और उसके अनुसार गतिको एक दृष्टान्तके द्वारा समझा जा सकता है। एक आदमी फोटो खिंचवाने गया। जब वह फोटो खिंचवाने बैठा, तब फोटोग्राफरने उससे कहा कि फोटो खिंचते समय हिलना मत और मुसकराते रहना। जैसे ही फोटो खिंचनेका समय आया, उस आदमीकी नाकपर एक मक्खी बैठ गयी। हाथसे मक्खीको भगाना ठीक न समझकर (कि कहीं फोटोमें वैसा न आ जाय) उसने अपनी नाकको सिकोड़ा। ठीक इसी समय उसकी फोटो खिंच गयी। उस आदमीने फोटोग्राफरसे फोटो माँगी, तो उसने कहा कि अभी फोटोको प्रत्यक्षरूपमें आनेमें कुछ समय लगेगा; आप अमुक दिन फोटो ले जाना। वह दिन आनेपर फोटोग्राफरने उसे फोटो दिखायी, तो उसमें (अपनी नाक सिकोड़े हुए) भद्दे रूपको देखकर वह आदमी बहुत नाराज हुआ कि तुमने फोटो बिगाड़ दी! फोटोग्राफरने कहा कि इसमें मेरी क्या गलती है? फोटो खिंचते समय आपने जैसी आकृति बनायी थी, वैसी ही फोटोमें आ गयी; अब तो फोटोमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

इसी तरह अन्तकालमें मनुष्यका जैसा चिन्तन होगा, वैसी ही योनि उसको प्राप्त होगी।

फोटो खिंचनेका समय तो पहलेसे ही मालूम रहता है, पर मृत्यु कब आ जाय—इसका हमें कुछ पता नहीं रहता। इसलिये अपने स्वभाव, चिन्तनको निर्मल बनाये रखते हुए हर समय सावधान रहना चाहिये और भगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये (गीता—आठवें अध्यायका पाँचवाँ और सातवाँ श्लोक)।

(२)

अन्तकालीन गतिके नियममें भगवान्‌की न्यायकारिता और दयालुता—ये दोनों ही भरी हुई हैं। साधारण दृष्टिसे न्याय और दया—दोनों परस्पर-विरुद्ध मालूम देते हैं। अगर न्याय करेंगे तो दया सिद्ध नहीं होगी और दया करेंगे तो न्याय सिद्ध नहीं होगा। कारण कि न्यायमें ठीक-ठीक निर्णय होता है, छूट नहीं होती और दयामें छूट होती है। परन्तु वास्तवमें यह विरोध सामान्य और क्रूर पुरुषके बनाये हुए न्यायमें ही आ सकता है, भगवान्‌के बनाये हुए न्यायमें नहीं; क्योंकि भगवान् परम दयालु और प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)। भगवान्‌के सभी न्याय, कानून दयासे परिपूर्ण होते हैं।

मनुष्य अन्तकालमें जैसा स्मरण करता है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। अगर कोई कुत्तेका चिन्तन करते हुए मरता है, तो क्रमशः कुत्ता ही बन जाता है। यह भगवान्‌का मनुष्यमात्रके प्रति लागू होनेवाला न्याय हुआ; क्योंकि भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दी है कि वह चाहे मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करे, चाहे अन्यका स्मरण करे। इसलिये यह भगवान्‌का 'न्याय' है। जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिले, उतने ही मूल्यमें भगवान् मिल जायँ—यह मनुष्यमात्रके प्रति भगवान्‌की 'दया' है। अगर मनुष्य भगवान्‌की इस न्यायकारिता और दयालुताकी तरफ खयाल करे, तो उसका भगवान्‌में आकर्षण हो जायगा।

परिशिष्ट भाव—सातवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'यो यो यां यां तनुं भक्तः'** पदोंसे उपासनाके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बतायी थी, अब इस श्लोकमें गतिके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बताते हैं। तात्पर्य है कि अपनी उपासना और गतिके विषयमें मनुष्य स्वतन्त्र है* और उसमें भगवान् अपने दयालु स्वभावके कारण बाधक नहीं बनते, प्रत्युत उसकी सहायता करते हैं। मनुष्य ही मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके दुर्गतिमें चला जाता है।

यह मनुष्यशरीरकी महत्ता है कि वह जो चाहे, वही पा सकता है। ऐसा कोई दुर्लभ पद नहीं है, जो मनुष्यको न मिल सके। जिसमें लाभ-(सुख-)का तो कोई अन्त न हो और दुःखका लेश भी न हो, ऐसा पद मनुष्य प्राप्त कर सकता है (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। परन्तु भोग और संग्रहमें लगकर मनुष्य चौरासी लाख योनियोंमें और नरकोंमें चला जाता है! इसलिये भगवान् दुःखके साथ कहते हैं—**'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'** (९। ३), **'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (१६। २०)।

मनुष्य अन्तकालमें जैसा चिन्तन करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। इस विषयमें एक श्लोक आता है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति। स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

'जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।'

तात्पर्य है कि मृत्युकालमें हम जैसा चाहें, वैसा चिन्तन नहीं कर सकते, प्रत्युत हमारे भीतर जैसी वासना होगी, वैसा ही चिन्तन स्वतः होगा और उसके अनुसार ही गति होगी। जिस वस्तुको हम सत्ता और महत्ता देते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, उससे सुख लेते हैं, उसीकी वासना बनती है। अगर संसारमें सुखबुद्धि न हो तो संसारकी वासना नहीं बनेगी। वासना न बननेपर मृत्युकालमें जो भी चिन्तन होगा, भगवान्‌का ही चिन्तन होगा; क्योंकि सिद्धान्तसे सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'।**

'तं तमेवैति'—जिस तरह सुईके पीछे-पीछे (उसी मार्गसे) धागा जाता है, उसी तरह मनुष्य भी अन्तकालके भावके अनुसार उसी गतिमें जाता है।

---

* **नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥**
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥ (मानस, उत्तर० १२१। ५)

सम्बन्ध—जब अन्तकालके स्मरणके अनुसार ही गति होती है, तो फिर अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण होनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये—इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**युध्य, च**	= युद्ध भी कर।	**असंशयम्**	= निःसन्देह
सर्वेषु	= सब	**मयि**	= मुझमें		
कालेषु	= समयमें	**अर्पितमनो-**		**माम्**	= मुझे
माम्	= मेरा	**बुद्धिः**	= मन और बुद्धि	**एव**	= ही
अनुस्मर	= स्मरण कर (और)		अर्पित करनेवाला (तू)	**एष्यसि**	= प्राप्त होगा।

व्याख्या—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'**—यहाँ **'सर्वेषु कालेषु'** पदोंका सम्बन्ध केवल स्मरणसे ही है, युद्धसे नहीं; क्योंकि युद्ध सब समयमें, निरन्तर हो ही नहीं सकता। कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं हो सकती, प्रत्युत समय-समयपर ही हो सकती है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है—यह बात सबके अनुभवकी है। परन्तु भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे भगवान्‌का स्मरण सब समयमें होता है; क्योंकि उद्देश्यकी जागृति हरदम रहती है।

सब समयमें स्मरण करनेके लिये कहनेका तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्यमें समयका विभाग होता है, जैसे—यह समय सोनेका और यह समय जगनेका है, यह समय नित्यकर्मका है, यह समय जीविकाके लिये काम-धंधा करनेका है, यह समय भोजनका है, आदि-आदि। परन्तु भगवान्‌के स्मरणमें समयका विभाग नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को तो सब समयमें ही याद रखना चाहिये।

'युध्य च' कहनेका तात्पर्य है कि यहाँ अर्जुनके सामने युद्धरूप कर्तव्य-कर्म है, जो उनको स्वतः प्राप्त हुआ है—**'यदृच्छया चोपपन्नम्'** (गीता २। ३२)। ऐसे ही मनुष्यको कर्तव्यरूपसे जो प्राप्त हो जाय, उसको भगवान्‌का स्मरण करते हुए करना चाहिये। परन्तु उसमें भगवान्‌का स्मरण मुख्य है और कर्तव्य-कर्म गौण है।

'अनुस्मर' का अर्थ है कि स्मरणके पीछे स्मरण होता रहे अर्थात् निरन्तर स्मरण होता रहे। दूसरा अर्थ यह है कि भगवान् किसी भी जीवको भूलते नहीं। भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें **'वेदाहम्'** (७। २६) कहकर वर्तमानमें सभी जीवोंको स्वतः जाननेकी बात कही है। जब भगवान् वर्तमानमें सबको जानते हैं, तब भगवान्‌का सम्पूर्ण जीवोंका स्मरण करना स्वाभाविक हुआ, अब यह जीव भगवान्‌का स्मरण करे तो इसका बेड़ा पार है!

भगवान्‌के स्मरणकी जागृतिके लिये भगवान्‌के साथ अपनापन होना चाहिये। यह अपनापन जितना ही दृढ़ होगा, उतनी ही भगवान्‌की स्मृति बार-बार आयेगी।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'—मेरेमें मन-बुद्धि अर्पित कर देनेका साधारण अर्थ होता है कि मनसे भगवान्‌का चिन्तन हो और बुद्धिसे परमात्माका निश्चय किया जाय। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको भगवान्‌के ही मानना, कभी भूलसे भी इनको अपने न मानना। कारण कि जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के ही हैं। उन प्राकृत पदार्थोंको अपना मानना ही गलती है। साधक जबतक उनको अपना मानेगा, तबतक वे शुद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि उनको अपना मानना ही खास अशुद्धि है और इस अशुद्धिसे ही अनेक अशुद्धियाँ पैदा होती हैं।

वास्तवमें मनुष्यका सम्बन्ध केवल प्रभुके साथ ही है। प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ मनुष्यका सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं और रहेगा भी नहीं। कारण कि मनुष्य साक्षात् परमात्माके सनातन अंश हैं; अतः उनका प्रकृतिसे सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसलिये साधकको चाहिये कि वह मन और बुद्धिको भगवान्‌के ही समझकर भगवान्‌के अर्पण कर दे। फिर उसको स्वाभाविक ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि प्रकृतिके कार्य शरीर, मन, बुद्धि आदिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह भगवान्‌से विमुख हुआ था।

वे प्राकृत पदार्थ कैसे हैं—इस विषयमें दार्शनिक मतभेद तो है, पर 'वे हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं'—इस वास्तविकतामें कोई मतभेद नहीं है अर्थात् इसको सभी दर्शनकार मानते हैं। इन दर्शनकारोंमें जो ईश्वरवादी हैं, वे सभी उन प्राकृत पदार्थोंको ईश्वरके ही मानते हैं और दूसरे

जितने दर्शनकार हैं, वे उन पदार्थोंको चाहे प्रकृतिके मानें, चाहे परमात्माके मानें, पर दार्शनिक दृष्टिसे वे उनको अपने नहीं मान सकते। अत: साधक उन सब पदार्थोंको ईश्वरके ही मानकर ईश्वरके अर्पण कर दें, तो उनका 'हम भगवान्‌के ही थे और भगवान्‌के ही रहेंगे' ऐसा भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् हो जायगा।

'मामेवैष्यस्यसंशयम्'—मेरेमें मन-बुद्धि अर्पण करनेवाला होनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। कारण कि मैं तुझे नित्य प्राप्त हूँ। अप्राप्तिका अनुभव तो कभी प्राप्त न होनेवाले शरीर और संसारको अपना माननेसे, उनके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही होता है। नित्यप्राप्त तत्त्वका कभी अभाव नहीं हुआ और न हो सकता है। अगर तू मन, बुद्धि और स्वयंको मेरे अर्पण कर देगा, तो तेरा मेरे साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, वह प्रकट हो जायगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

स्मरण-सम्बन्धी विशेष बात

स्मरण तीन तरहका होता है—बोधजन्य, सम्बन्धजन्य और क्रियाजन्य। बोधजन्य स्मरणका कभी अभाव नहीं होता। जबतक सम्बन्धको न छोड़ें, तबतक सम्बन्धजन्य स्मरण बना रहता है। क्रियाजन्य स्मरण निरन्तर नहीं रहता। इन तीनों प्रकारके स्मरणका विस्तार इस तरह है—

(१) **बोधजन्य स्मरण**—अपना जो होनापन है, उसको याद नहीं करना पड़ता। परन्तु शरीरके साथ जो एकता मान ली है, वह भूल है। बोध होनेपर वह भूल मिट जाती है, फिर अपना होनापन स्वत:सिद्ध रहता है। गीतामें भगवान्‌के वचन हैं—'तू, मैं और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं है और भविष्यमें नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है (गीता—दूसरे अध्यायका बारहवाँ श्लोक) अर्थात् निश्चित ही पहले थे और निश्चित ही पीछे रहेंगे। 'जो पहले सर्ग-महासर्ग और प्रलय-महाप्रलयमें था, वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर नष्ट होता है' (आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। इसमें 'वही यह प्राणिसमुदाय' तो परमात्माका अंश है और 'उत्पन्न हो-होकर नष्ट होनेवाला' शरीर है। अगर नष्ट होनेवाले भागका विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दें तो अपने होनेपनका स्पष्ट बोध हो जाता है। यह बोधजन्य स्मरण नित्य-निरन्तर बना रहता है, कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह स्मरण अपने नित्य स्वरूपका है।

(२) **सम्बन्धजन्य स्मरण**—जिसको हम स्वयं मान लेते हैं, वह सम्बन्धजन्य स्मरण है, जैसे 'शरीर हमारा है, संसार हमारा है' आदि। यह माना हुआ सम्बन्ध तबतक नहीं मिटता, जबतक हम 'यह हमारा नहीं है' ऐसा नहीं मान लेते। परन्तु भगवान् वास्तवमें हमारे हैं; हम मानें तो हमारे हैं; नहीं मानें तो हमारे हैं, जानें तो हमारे हैं, नहीं जानें तो हमारे हैं, हमारे दीखें तो हमारे हैं, हमारे नहीं दीखें तो हमारे हैं। हम सब उनके अंश हैं और वे अंशी हैं। हम उनसे अलग नहीं हो सकते और वे हमसे अलग नहीं हो सकते। जबतक हम शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मानते हैं, तबतक भगवान्‌का यह वास्तविक सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। जब हम शरीर और संसारके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव स्वीकार कर लेते हैं, तब भगवान्‌का नित्य-सम्बन्ध स्वत: जाग्रत् हो जाता है। फिर भगवान्‌का स्मरण नित्य-निरन्तर बना रहता है।

(३) **क्रियाजन्य स्मरण**—क्रियाजन्य स्मरण अभ्यासजन्य होता है। जैसे स्त्रियाँ सिरपर जलका घड़ा रखकर चलती हैं तो अपने दोनों हाथोंको खुला रखती हैं और दूसरी स्त्रियोंके साथ बातें भी करती रहती हैं; परन्तु सिरपर रखे घड़ेकी सावधानी निरन्तर रहती है। नट रस्सेपर चलते हुए गाता भी है, बोलता भी है, पर रस्सेका ध्यान निरन्तर रहता है। ड्राइवर मोटर चलाता है, हाथसे गियर बदलता है, हैण्डल घुमाता है और मालिकसे बातचीत भी करता है, पर रास्तेका ध्यान निरन्तर रहता है। ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्‌को निरन्तर याद रखना अभ्यासजन्य स्मरण है।

इस अभ्यासजन्य स्मरणके भी तीन प्रकार हैं—

(क) संसारका कार्य करते हुए भगवान्‌को याद रखना—इसमें सांसारिक कार्यकी मुख्यता और भगवान्‌के स्मरणकी गौणता रहती है। अत: इसमें यह भाव रहता है कि संसारका काम बिगड़े नहीं, ठीक तरहसे होता रहे और साथ-साथ भगवान्‌का स्मरण भी होता रहे।

(ख) भगवान्‌को याद रखते हुए संसारका कार्य करना—इसमें भगवान्‌के स्मरणकी मुख्यता और सांसारिक कार्यकी गौणता रहती है। इसमें भगवान्‌के स्मरणमें भूल न हो—यह सावधानी रहती है और संसारके काममें भूल भी हो जाय तो उसकी परवाह नहीं होती। कारण कि साधकमें यह जागृति रहेगी कि संसारका काम सुधर जाय तो भी अन्तमें रहेगा नहीं और बिगड़ जाय तो भी अन्तमें रहेगा

नहीं। इसलिये इसमें भगवान्‌के स्मरणकी भूल नहीं होती।

(ग) कार्यको भगवान्‌का ही समझना—इसमें काम-धंधा करते हुए भी एक विलक्षण आनन्द रहता है कि 'मेरा अहोभाग्य है कि मैं भगवान्‌का ही काम करता हूँ, भगवान्‌की ही सेवा करता हूँ!' अतः इसमें भगवान्‌की स्मृति विशेषतासे रहती है। जैसे, कोई सज्जन अपनी कन्याके विवाह-कार्यके समय कन्याके लिये तरह-तरहकी वस्तुएँ खरीदता है, तरह-तरहके कार्य करता है, अनेक व्यक्तियोंको निमन्त्रण देता है; परन्तु अनेक प्रकारके कार्य करते हुए भी 'कन्याका विवाह करना है'—यह बात उसको निरन्तर याद रहती है। कन्यामें भगवान्‌के समान पूज्यभावपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता तो भी उसके विवाहके लिये कार्य करते हुए उसकी याद निरन्तर रहती है, फिर भगवान्‌के लिये कार्य करते हुए भगवान्‌की पूज्यभावसहित अपनेपनकी मीठी स्मृति निरन्तर बनी रहे—इसमें कहना ही क्या है!

भगवत्सम्बन्धी कार्य दो तरहका होता है—

(१) **स्वरूपसे**—भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना; भगवान्‌की लीलाका श्रवण, चिन्तन, पठन-पाठन आदि करना—यह स्वरूपसे भगवत्सम्बन्धी काम है।

(२) **भावसे**—संसारका काम करते हुए भी 'जब सब संसार भगवान्‌का है, तब संसारका काम भी भगवान्‌का ही काम हुआ। इसको भगवान्‌के नाते ही करना है, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करना है। इस कामसे हमें कुछ लेना नहीं है। भगवान्‌ने हमें जिस वर्णमें पैदा किया है, जिस आश्रममें रखा है, उसमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उचित काम करना है'—ऐसा भाव रहनेसे वह काम सांसारिक होनेपर भी भगवान्‌का हो जाता है।

[सातवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने सात बातें कही थीं; उन्हीं सात बातोंपर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये और यह प्रकरण भी सात ही श्लोकोंमें समाप्त हुआ।]

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा—'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**' तो इसपर अर्जुनने आठवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें प्रश्न किया—'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**'। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है (आठवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। परन्तु यह नियम केवल मेरी प्राप्तिके विषयमें नहीं है। मनुष्य जिस-जिसका भी स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह सबके लिये सामान्य नियम है (आठवें अध्यायका पाँचवाँ-छठा श्लोक)। अन्तकाल किसी भी समय आ सकता है। ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट, क्षण नहीं है, जिसमें अन्तकाल न आ सके। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर, सब समय मेरा स्मरण करना चाहिये—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**'। जो नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मेरी प्राप्ति सुलभ है (आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); क्योंकि वह किसी भी समय शरीर छोड़ेगा तो मेरा स्मरण करते हुए ही छोड़ेगा और मेरेको ही प्राप्त होगा।

'**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**'—सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करनेसे साधकके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। मन-बुद्धि अपने नहीं हैं, इनके साथ अपना सम्बन्ध ही नहीं है—इस प्रकार मन-बुद्धिमें अपनापन छोड़नेसे मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌के अर्पित होंगे; क्योंकि ये भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति हैं। यद्यपि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं, तथापि परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌के साथ है; क्योंकि वह भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५।७)। इसलिये साधक '**मय्यर्पितमनोबुद्धि**' तभी हो सकता है, जब वह अपराके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, अपराको उसके मालिक भगवान्‌के अर्पित कर दे अर्थात् अपराको अपना और अपने लिये कभी न माने।

यहाँ 'मन' के अन्तर्गत चित्तको और 'बुद्धि' के अन्तर्गत अहंकारको भी समझ लेना चाहिये। मन-बुद्धि अर्पित होनेसे भक्त निर्मम और निरहंकार हो जाता है।

वास्तवमें भक्त स्वयं भगवान्‌के अर्पित होता है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि आदि सर्वस्व अपने-आप अर्पित हो जाता है। सर्वस्व भगवान्‌के अर्पित होनेसे सर्वस्व नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान् रह जाते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कही हुई अभ्यासजन्य स्मृतिका अब आगेके श्लोकमें वर्णन करते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!		करनेवाले	**अनुचिन्तयन्**	= चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़नेवाला मनुष्य)
अभ्यासयोगयुक्तेन	= अभ्यासयोगसे युक्त	**चेतसा**	= चित्तसे		
नान्यगामिना	= (और) अन्यका चिन्तन न	**परमम्**	= परम		
		दिव्यम्	= दिव्य	**याति**	= (उसीको) प्राप्त हो जाता है।
		पुरुषम्	= पुरुषका		

व्याख्या—[सातवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें जो सगुण-निराकार परमात्माका वर्णन हुआ था, उसीको यहाँ आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें विस्तारसे कहा गया है।]

'**अभ्यासयोगयुक्तेन**'—इस पदमें 'अभ्यास' और 'योग'—ये दो शब्द आये हैं। संसारसे मन हटाकर परमात्मामें बार-बार मन लगानेका नाम अभ्यास है और समताका नाम 'योग' है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। अभ्यासमें मन लगनेसे प्रसन्नता होती है और मन न लगनेसे खिन्नता होती है। यह अभ्यास तो है, पर अभ्यासयोग नहीं है। अभ्यासयोग तभी होगा, जब प्रसन्नता और खिन्नता—दोनों ही न हों। अगर चित्तमें प्रसन्नता और खिन्नता हो भी जायँ, तो भी उनको महत्त्व न दे, केवल अपने लक्ष्यको ही महत्त्व दे। अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहना भी योग है। ऐसे योगसे युक्त चित्त हो।

'**चेतसा नान्यगामिना**'—चित्त अन्यगामी न हो अर्थात् एक परमात्माके सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य न हो।

'**परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्**'—ऐसे चित्तसे परम दिव्य पुरुषका अर्थात् सगुण-निराकार परमात्माका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने प्रश्न किया था —'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**' (८। २)। उस प्रश्नका उत्तर देकर अब आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें अन्तकालमें स्मरण करनेवालोंके प्रकारका वर्णन करते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् ध्यान करनेके लिये अत्यन्त उपयोगी सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

यः	= जो	**अणीयांसम्**	= अत्यन्त सूक्ष्म,	**आदित्यवर्णम्**	= सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप
कविम्	= सर्वज्ञ,	**सर्वस्य**	= सबका		
पुराणम्	= अनादि,	**धातारम्**	= धारण-पोषण करनेवाला,		
अनुशासितारम्	= सबपर शासन करनेवाला,			**अचिन्त्यरूपम्**	= —ऐसे अचिन्त्य स्वरूपका
		तमसः	= अज्ञानसे		
अणोः	= सूक्ष्मसे	**परस्तात्**	= अत्यन्त परे,	**अनुस्मरेत्**	= चिन्तन करता है।

व्याख्या—'**कविम्**'—सम्पूर्ण प्राणियोंको और उनके सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंको जाननेवाले होनेसे उन परमात्माका नाम 'कवि' अर्थात् सर्वज्ञ है।

'**पुराणम्**'—वे परमात्मा सबके आदि होनेसे 'पुराण' कहे जाते हैं।

'**अनुशासितारम्**'—हम देखते हैं तो नेत्रोंसे देखते हैं। नेत्रोंके ऊपर मन शासन करता है, मनके ऊपर बुद्धि और बुद्धिके ऊपर 'अहम्' शासन करता है तथा 'अहम्' के ऊपर भी जो शासन करता है, जो सबका आश्रय, प्रकाशक और प्रेरक है, वह (परमात्मा) 'अनुशासिता' है।

दूसरा भाव यह है कि जीवोंका कर्म करनेका जैसा-जैसा स्वभाव बना है, उसके अनुसार ही परमात्मा (वेद,

शास्त्र, गुरु, सन्त आदिके द्वारा) कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं और मनुष्योंके पुराने पाप-पुण्यरूप कर्मोंके अनुसार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर उन मनुष्योंको शुद्ध, निर्मल बनाते हैं। इस प्रकार मनुष्योंके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले और मनुष्योंके पाप-पुण्यरूप पुराने कर्मोंका (फल देकर) नाश करनेवाले होनेसे परमात्मा '**अनुशासिता**' हैं।

'**अणोरणीयांसम्**'—परमात्मा परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा मन-बुद्धिके विषय नहीं हैं; मन-बुद्धि आदि उनको पकड़ नहीं पाते। मन-बुद्धि तो प्रकृति-का कार्य होनेसे प्रकृतिको भी पकड़ नहीं पाते, फिर परमात्मा तो उस प्रकृतिसे भी अत्यन्त परे हैं! अत: वे परमात्मा सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं अर्थात् सूक्ष्मताकी अन्तिम सीमा हैं।

'**सर्वस्य धातारम्**'—परमात्मा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको धारण करनेवाले हैं, उनका पोषण करनेवाले हैं। उन सभीको परमात्मासे ही सत्ता-स्फूर्ति मिलती है। अत: वे परमात्मा सबका धारण-पोषण करनेवाले कहे जाते हैं।

'**तमसः परस्तात्**'—परमात्मा अज्ञानसे अत्यन्त परे हैं, अज्ञानसे सर्वथा रहित हैं। उनमें लेशमात्र भी अज्ञान नहीं है, प्रत्युत वे अज्ञानके भी प्रकाशक हैं।

'**आदित्यवर्णम्**'—उन परमात्माका वर्ण सूर्यके समान है अर्थात् वे सूर्यके समान सबको, मन-बुद्धि आदिको प्रकाशित करनेवाले हैं। उन्हींसे सबको प्रकाश मिलता है।

'**अचिन्त्यरूपम्**'—उन परमात्माका स्वरूप अचिन्त्य है अर्थात् वे मन-बुद्धि आदिके चिन्तनका विषय नहीं हैं।

'**अनुस्मरेत्**'—सर्वज्ञ, अनादि, सबके शासक, परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाले, अज्ञानसे अत्यन्त परे और सबको प्रकाशित करनेवाले सगुण-निराकार परमात्माके चिन्तनके लिये यहाँ '**अनुस्मरेत्**' पद आया है।

यहाँ '**अनुस्मरेत्**' कहनेका तात्पर्य है कि प्राणिमात्र उन परमात्माकी जानकारीमें हैं; उनकी जानकारीके बाहर कुछ है ही नहीं अर्थात् उन परमात्माको सबका स्मरण है, अब उस स्मरणके बाद मनुष्य उन परमात्माको याद कर ले।

यहाँ शंका होती है कि जो अचिन्त्य है, उसका स्मरण कैसे करें? इसका समाधान है कि 'वह परमात्मतत्त्व चिन्तनमें नहीं आता'—ऐसी दृढ़ धारणा ही अचिन्त्य परमात्माका चिन्तन है।

परिशिष्ट भाव—परमात्माको '**कविम्**' कहनेका तात्पर्य है कि उसके ज्ञानके बाहर कुछ भी नहीं है। '**पुराणम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह अनादि है, कालसे भी अतीत अर्थात् कालका भी प्रकाशक है। '**अनुशासितारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि सब स्वाभाविक ही उसके शासनमें हैं। वह जीव और जगत्—दोनोंका ही शासक है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों-(विनाशशील और अविनाशी-) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

'**धातारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा सबका पालन-पोषण करनेवाला है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। '**आदित्यवर्णम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे सूर्यमें स्वत:-स्वाभाविक नित्य प्रकाश रहता है, ऐसे ही परमात्मामें स्वत:-स्वाभाविक नित्य ज्ञान, बोध रहता है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और सबका प्रकाशक है (गीता—तेरहवें अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक)। '**तमसः परस्तात्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा अज्ञानसे अथवा अपरासे अत्यन्त परे है—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**' (गीता १५। १८)।

सम्बन्ध—अब अन्तकालके चिन्तनके अनुसार गति बताते हैं।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

सः	= वह	**अचलेन**	= अचल	**भ्रुवोः**	= भृकुटीके
भक्त्या,		**मनसा**	= मनसे	**मध्ये**	= मध्यमें
युक्तः	= भक्तियुक्त मनुष्य	**च**	= और	**प्राणम्**	= प्राणोंको
प्रयाणकाले	= अन्त समयमें	**योगबलेन**	= योगबलके द्वारा	**सम्यक्**	= अच्छी तरहसे

आवेश्य	= प्रविष्ट करके (शरीर छोड़नेपर)	**तम्**	= उस	**पुरुषम्**	= पुरुषको
		परम्	= परम	**एव**	= ही
		दिव्यम्	= दिव्य	**उपैति**	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**प्रयाणकाले मनसाचलेन ''''''' स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**'—यहाँ भक्ति नाम प्रियताका है; क्योंकि उस तत्त्वमें प्रियता (आकर्षण) होनेसे ही मन अचल होता है। वह भक्ति अर्थात् प्रियता स्वयंसे होती है, मन-बुद्धि आदिसे नहीं।

अन्तकालमें कवि, पुराण, अनुशासिता आदि विशेषणोंसे (पीछेके श्लोकमें) कहे हुए सगुण-निराकार परमात्मामें भक्तियुक्त मनुष्यका मन स्थिर हो जाना अर्थात् सगुण-निराकार-स्वरूपमें आदरपूर्वक दृढ़ हो जाना ही मनका अचल होना है।

पहले प्राणायामके द्वारा प्राणोंको रोकनेका जो अधिकार प्राप्त किया है, उसका नाम 'योगबल' है। उस योगबलके द्वारा दोनों भ्रुवोंके मध्यभागमें स्थित जो द्विदल चक्र है, उसमें स्थित सुषुम्णा नाड़ीमें प्राणोंका अच्छी तरहसे प्रवेश करके वह (शरीर छोड़कर दसवें द्वारसे होकर) दिव्य परम पुरुषको प्राप्त हो जाता है।

'**तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**' पदोंका तात्पर्य है कि जिस परमात्मतत्त्वका पीछेके (नवें) श्लोकमें वर्णन हुआ है, उसी दिव्य परम सगुण-निराकार परमात्माको वह प्राप्त हो जाता है।

आठवें श्लोकमें जो बात कही गयी थी, उसीको नवें और दसवें श्लोकमें विस्तारसे कहकर इन तीन श्लोकोंके प्रकरणका उपसंहार किया गया है।

इस प्रकरणमें सगुण-निराकार परमात्माकी उपासनाका वर्णन है। इस उपासनामें अभ्यासकी आवश्यकता है। प्राणायामपूर्वक मनको उस परमात्मामें लगानेका नाम अभ्यास है। यह अभ्यास अणिमा, महिमा आदि सिद्धि प्राप्त करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत केवल परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेके लिये है। ऐसा अभ्यास करते हुए प्राणों और मनपर ऐसा अधिकार प्राप्त कर ले कि जब चाहे प्राणोंको रोक ले और मनको जब चाहे तभी तथा जहाँ चाहे वहीं लगा ले। जो ऐसा अधिकार प्राप्त कर लेता है, वही अन्तकालमें प्राणोंको सुषुम्णा नाड़ीमें प्रविष्ट कर सकता है। कारण कि जब अभ्यासकालमें भी मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेमें साधकको कठिनताका, असमर्थताका अनुभव होता है, तब अन्तकाल-जैसे कठिन समयमें मनको लगाना साधारण आदमीका काम नहीं है। जिसके पास पहलेसे योगबल है, वही अन्तसमयमें मनको परमात्मामें लगा सकता है और प्राणोंका सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश करा सकता है।

साधक पहले यह निश्चय कर ले कि अज्ञानसे अत्यन्त परे, सबसे अतीत जो परमात्मतत्त्व है, वह सबका प्रकाशक, सबका आधार और सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला निर्विकार तत्त्व है। उस तत्त्वमें ही प्रियता होनी चाहिये, मनका आकर्षण होना चाहिये, फिर उसमें स्वाभाविक मन लगेगा।

परिशिष्ट भाव—'भक्त्या युक्तः' का तात्पर्य है कि संसारकी आसक्ति मिट जानेसे उस साधकका एक परमात्मामें ही आकर्षण रहता है, अन्यमें आकर्षण नहीं रहता। संसारी मनुष्य तो अपरामें आकृष्ट रहते हैं, पर जो अपराको छोड़कर भगवान्‌में आकृष्ट हो जाता है, वह भक्त हो जाता है। संसारी मनुष्य शरीर-संसारमें आसक्त होनेसे 'विभक्त' अर्थात् भगवान्‌से अलग हो जाते हैं, पर भगवान्‌में लगा हुआ साधक विभक्त नहीं रहता, प्रत्युत 'भक्त' अर्थात् भगवान्‌से एक (अभिन्न) हो जाता है।

'**योगबलेन**' कहनेका तात्पर्य है कि पहले किये हुए योगाभ्यासके कारण अन्त समयमें होनेवाली अशक्त अवस्था उसको बाधा नहीं पहुँचा सकती, उसमें कोई विकार पैदा नहीं कर सकती। प्राणायाम आदिका बल 'योगबल' है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें निर्गुण-निराकारकी प्राप्तिके उपायका उपक्रम करते हैं।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

वेदविदः	= वेदवेत्तालोग	**यत्**	= जिसको	**चरन्ति**	= पालन करते हैं,
यत्	= जिसको	**विशन्ति**	= प्राप्त करते हैं (और)	**तत्**	= वह
अक्षरम्	= अक्षर	**यत्**	= (साधक) जिसकी (प्राप्तिकी)	**पदम्**	= पद (मैं)
वदन्ति	= कहते हैं,			**ते**	= तेरे लिये
वीतरागाः	= वीतराग	**इच्छन्तः**	= इच्छा करते हुए	**सङ्ग्रहेण**	= संक्षेपसे
यतयः	= यति	**ब्रह्मचर्यम्**	= ब्रह्मचर्यका	**प्रवक्ष्ये**	= कहूँगा।

व्याख्या—[सातवें अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें जो निर्गुण-निराकार परमात्माका वर्णन हुआ था, उसीको यहाँ ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें विस्तारसे कहा गया है।]

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'—वेदोंको जाननेवाले पुरुष जिसको अक्षर-निर्गुण-निराकार कहते हैं, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो सदा-सर्वदा एकरूप, एकरस रहता है और जिसको इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** कहा गया है, उसी निर्गुण-निराकार तत्त्वका यहाँ 'अक्षर' नामसे वर्णन हुआ है।

'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः'—जिनके अन्तःकरणमें रागका अत्यन्त अभाव हो गया है; अतः जिनका अन्तःकरण महान् निर्मल है और जिनके हृदयमें सर्वोपरि अद्वितीय परम तत्त्वको पानेकी उत्कट लगन लगी है, ऐसे प्रयत्नशील यति महापुरुष उस तत्त्वमें प्रवेश करते हैं—उसको प्राप्त करते हैं।

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'—जिनका उद्देश्य केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका है, परमात्मप्राप्तिके सिवाय जिनका और कोई ध्येय है ही नहीं और जो परमात्मप्राप्तिकी इच्छा रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संयम करते हैं अर्थात् किसी भी विषयका भोगबुद्धिसे सेवन नहीं करते।

'तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये'—जो सम्पूर्ण साधनोंका आखिरी फल है, उस पदको अर्थात् तत्त्वको मैं तेरे लिये संक्षेपसे और अच्छी तरहसे कहूँगा। संक्षेपसे कहनेका तात्पर्य है कि शास्त्रोंमें जिस तत्त्वको सर्वोपरि विलक्षण बताया गया है, हरेक आदमी उसको प्राप्त नहीं कर सकता—ऐसी जिसकी महिमा बतायी गयी है; वह पद (तत्त्व) किस तरहसे प्राप्त होता है—इस बातको मैं कहूँगा। अच्छी तरहसे कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्मकी उपासना करनेवाले जिस तरहसे उस ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, उसको मैं अच्छी तरहसे कहूँगा।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें गौणतासे चारों आश्रमोंका वर्णन ले सकते हैं; जैसे—**'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'** पदोंसे गृहस्थाश्रमका संकेत है; क्योंकि वेदोंका अध्ययन करना ब्राह्मणका खास काम है। **'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः'** पदोंसे संन्यास और वानप्रस्थाश्रमका संकेत है। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** पदोंसे ब्रह्मचर्याश्रमका संकेत है।

मुक्ति सभी वर्णों, आश्रमोंमें हो सकती है। इसलिये भगवान्‌ने आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं किया है और वर्णोंका स्पष्टरूपसे वर्णन भी कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है। अर्जुन क्षत्रिय थे और वे अपने युद्धरूप कर्तव्यको छोड़ना चाहते थे। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपने कर्तव्यमें लगानेके उद्देश्यसे वर्णधर्मका वर्णन किया। युद्ध करना वर्णधर्म है, आश्रमधर्म नहीं।

सम्बन्ध—अन्तकालमें उस निर्गुण-निराकार तत्त्वकी प्राप्तिकी फलसहित विधि बतानेके लिये आगेके दो श्लोक कहते हैं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

सर्वद्वाराणि	= (इन्द्रियोंके) सम्पूर्ण द्वारोंको	**आधाय**	= स्थापित करके		उच्चारण (और)
संयम्य	= रोककर	**योगधारणाम्**	= योगधारणामें	**माम्**	= मेरा
मनः	= मनका	**आस्थितः**	= सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ	**अनुस्मरन्**	= स्मरण करता हुआ
हृदि	= हृदयमें	**यः**	= जो साधक	**देहम्**	= शरीरको
निरुध्य	= निरोध करके	**ओम्**	= 'ॐ'	**त्यजन्**	= छोड़कर
च	= और	**इति**	= इस	**प्रयाति**	= जाता है,
आत्मनः	= अपने	**एकाक्षरम्**	= एक अक्षर	**सः**	= वह
प्राणम्	= प्राणोंको	**ब्रह्म**	= ब्रह्मका	**पराम्**	= परम
मूर्ध्नि	= मस्तकमें	**व्याहरन्**	= (मानसिक)	**गतिम्**	= गतिको
				याति	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—**'सर्वद्वाराणि संयम्य'**—(अन्तसमयमें) सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारोंका संयम कर ले अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका—इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको तथा बोलना, ग्रहण करना, गमन करना, मूत्र-त्याग और मल-त्याग—इन पाँचों क्रियाओंसे वाणी, हाथ, चरण, उपस्थ और गुदा—इन पाँचों कर्मेन्द्रियोंको सर्वथा हटा ले। इससे इन्द्रियाँ अपने स्थानमें रहेंगी।

'मनो हृदि निरुध्य च'—मनका हृदयमें ही निरोध कर ले अर्थात् मनको विषयोंकी तरफ न जाने दे। इससे मन अपने स्थान-(हृदय-) में रहेगा।

'मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम्'—प्राणोंको मस्तकमें धारण कर ले अर्थात् प्राणोंपर अपना अधिकार प्राप्त करके दसवें द्वार—ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणोंको रोक ले।

'आस्थितो योगधारणाम्'—इस प्रकार योगधारणामें स्थित हो जाय। इन्द्रियोंसे कुछ भी चेष्टा न करना, मनसे भी संकल्प-विकल्प न करना और प्राणोंपर पूरा अधिकार प्राप्त करना ही योगधारणामें स्थित होना है।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'—इसके बाद एक अक्षर ब्रह्म 'ॐ' (प्रणव) का मानसिक उच्चारण करे और मेरा अर्थात् निर्गुण-निराकार परम अक्षर ब्रह्मका (जिसका वर्णन इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें हुआ है) स्मरण करे*। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सत्तारूपसे परिपूर्ण हैं—ऐसी धारणा करना ही मेरा स्मरण है।

'यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्'—उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकारका स्मरण करते हुए जो देहका त्याग करता है अर्थात् दसवें द्वारसे प्राणोंको छोड़ता है वह परमगतिको अर्थात् निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त होता है।

परिशिष्ट भाव—इन श्लोकोंमें योगाभ्यास करनेवाले अद्वैतवादीका वर्णन है। **'व्याहरन्'** पदसे मानसिक उच्चारण समझना चाहिये; क्योंकि मनका हृदयमें निरोध करनेपर तथा प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करनेपर वाचिक उच्चारण होना असम्भव है।

सम्बन्ध—जिसके पास योगका बल होता है और जिसका प्राणोंपर अधिकार होता है, उसको तो निर्गुण-निराकारकी प्राप्ति हो जाती है; परन्तु दीर्घकालीन अभ्यास-साध्य होनेसे यह बात सबके लिये कठिन पड़ती है। इसलिये भगवान् आगेके श्लोकमें अपनी अर्थात् सगुण-साकारकी सुगमतापूर्वक प्राप्तिकी बात कहते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**यः**	= जो मनुष्य	**नित्यशः**	= नित्य-
अनन्यचेताः	= अनन्य चित्तवाला	**माम्**	= मेरा	**सततम्**	= निरन्तर

* समग्ररूपका प्रकरण होनेसे यहाँ 'माम्' शब्दसे निर्गुण-निराकारका चिन्तन लिया गया है।

स्मरति	= स्मरण करता है,		मुझमें लगे हुए	**सुलभः**	= सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।
तस्य	= उस	**योगिनः**	= योगीके लिये		
नित्ययुक्तस्य	= नित्य-निरन्तर	**अहम्**	= मैं		

व्याख्या—[सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें जो सगुण-साकार परमात्माका वर्णन हुआ था, उसीको यहाँ चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें विस्तारसे कहा गया है।]

'**अनन्यचेताः**'—जिसका चित्त भगवान्‌को छोड़कर किसी भी भोगभूमिमें, किसी भी ऐश्वर्यमें किंचिन्मात्र भी नहीं जाता; जिसके अन्तःकरणमें भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका कोई आश्रय नहीं है, महत्त्व नहीं है, वह पुरुष अनन्य चित्तवाला है। जैसे, पतिव्रता स्त्रीका पतिका ही व्रत, नियम रहता है। पतिके सिवाय उसके मनमें अन्य किसी भी पुरुषका रागपूर्वक चिन्तन कभी होता ही नहीं। शिष्य गुरुके और सुपुत्र माँ-बापके परायण रहता है, उनका दूसरा कोई इष्ट नहीं होता। इसी तरहसे भक्त भगवान्‌के ही परायण रहता है।

यहाँ '**अनन्यचेताः**' पद सगुण-उपासना करनेवालेका वाचक है। सगुण-उपासनामें विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जो भगवान्‌के स्वरूप हैं, उनमेंसे जो जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसी स्वरूपका चिन्तन हो। परन्तु दूसरे स्वरूपोंको अपने इष्टसे अलग न माने और अपने-आपको भी अपने इष्टके सिवाय और किसीका न माने, तो उसका अन्यकी तरफ मन नहीं जाता। तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं; मेरा और कोई नहीं है तथा मैं और किसीका नहीं हूँ' ऐसा भाव होनेसे वह '**अनन्यचेताः**' हो जाता है।

'**सततं यो मां स्मरति नित्यशः**'—'**सततम्**' का अर्थ होता है—निरन्तर अर्थात् जबसे नींद खुले, तबसे लेकर गाढ़ नींद आनेतक जो मेरा स्मरण करता है; और '**नित्यशः**'का अर्थ होता है—सदा अर्थात् इस बातको जिस दिनसे पकड़ा, उस दिनसे लेकर मृत्युतक जो मेरा स्मरण करता है।

'**तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः**'—ऐसे नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। यहाँ 'नित्ययुक्त' पद चित्तके द्वारा निरन्तर चिन्तन करनेवालेका वाचक नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे खुद भगवान्‌में लगनेवालेका वाचक है। जैसे कोई ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपनेमें स्थित रहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ; क्षत्रिय, वैश्य आदि नहीं हूँ।' वह अपने ब्राह्मणपनेको याद करे या न करे, पर उसके ब्राह्मणपनेमें कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस नित्य-सम्बन्धमें दृढ़ रहनेवाला ही नित्ययुक्त है। ऐसे नित्ययुक्त योगीको भगवान् सुगमतासे मिल जाते हैं।

भगवान्‌के सिवाय शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि अपने नहीं हैं, केवल भगवान् ही अपने हैं—ऐसा दृढ़तासे माननेपर भगवान् सुलभ हो जाते हैं। परन्तु शरीर आदिको अपना मानते रहनेसे भगवान् सुलभ नहीं होते।

भगवान्‌के साथ अपनी भिन्नता तथा संसारके साथ अपनी एकता कभी हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। इस रीतिसे मनुष्यकी भगवान्‌के साथ स्वतः-स्वाभाविक अभिन्नता है और संसारके साथ स्वतः-स्वाभाविक भिन्नता है। परन्तु भूलके कारण मनुष्य अपनेको भगवान्‌से और भगवान्‌को अपनेसे अलग मान लेता है तथा अपनेको शरीरका तथा शरीरको अपना मान लेता है। इस विपरीत धारणाके कारण ही यह मनुष्य जन्म-मरणके चक्रमें फँसा रहता है। जब यह विपरीत धारणा सर्वथा मिट जाती है, तब भगवान् स्वतः सुलभ हो जाते हैं।

आठवेंसे तेरहवें श्लोकतक सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारका स्मरण बताया गया। इन दोनों स्मरणोंमें प्राणायामकी मुख्यता रहती है, जिसको सिद्ध करना कठिन है। अन्तकाल-जैसी विकट अवस्थामें भी प्राणायामके बलसे प्राणोंको भ्रुवोंके मध्यमें स्थापित कर सकें अथवा मूर्धा-(दशम द्वार-) में लगा सकें—ऐसा प्राणोंपर अधिकार रहनेकी आवश्यकता है। परन्तु भगवान्‌के स्मरणमें यह कठिनता नहीं है, क्योंकि यहाँ प्राणोंका खयाल नहीं है। यहाँ तो भगवान्‌के साथ साधकका स्वयंका अनादिकालसे स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदिकी भी जरूरत नहीं है। अतः इसमें अन्तकालमें प्राण आदिको लगानेकी जरूरत नहीं है। जैसे किसी वस्तुका बीमा होनेपर वस्तुके बिगड़ने, टूटने-फूटनेकी चिन्ता नहीं रहती, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देनेपर साधकको अपनी गतिके विषयमें कभी किंचिन्मात्र

भी चिन्ता नहीं होती। कारण कि यह साधन क्रियाजन्य अथवा अभ्यासजन्य नहीं है। इसमें तो वास्तविक सम्बन्धकी जागृति है। अतः इसमें कठिनताका नामोनिशान नहीं है। इसीसे भगवान्‌ने अपने-आपको सुलभ बताया है।

परिशिष्ट भाव—'अनन्यचेताः'—भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन अन्य जगह कैसे जायगा? क्यों जायगा? कहाँ जायगा? इसलिये वह स्वतः अनन्यचित्तवाला हो जाता है।

'सततं यो मां स्मरति नित्यशः'—एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। जो करते हैं, वह क्रिया है और जो अपने-आप होता है, वह स्मरण है। जैसे, गीताके अन्तमें अर्जुनने कहा—**'स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३) तो वह स्मृति क्रिया नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के साथ अपने नित्य सम्बन्धकी स्वतः होनेवाली स्मृति है। भगवान्‌के स्मरणमें खास हेतु उनमें अपनापन है। भगवान् ही मेरे हैं और मेरे लिये हैं—इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन होनेसे स्वतः भगवान्‌में प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसका स्मरण अपने-आप और नित्य-निरन्तर होता है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें **'मय्यासक्तमनाः'** पदसे अपनेमें आसक्ति अर्थात् प्रेम होनेकी बात कही है। तात्पर्य है कि केवल भगवान्‌को ही अपना और अपने लिये माननेसे साधककी भगवान्‌में प्रियता हो जाती है। भगवान्‌में प्रियता होनेके बाद फिर भगवान्‌का स्मरण स्वतः होता है।

'नित्ययुक्तस्य'—नित्य-निरन्तर भगवान्‌के साथ जुड़ा हुआ होनेसे भक्तको 'नित्ययुक्त' कहा गया है। सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः'** पदोंसे भी यही बात कही गयी है। **'नित्ययुक्तस्य'** पदसे श्लोकके पूर्वार्धमें आयी सभी बातोंका समाहार हो जाता है।

'तस्याहं सुलभः पार्थ'—भगवान्‌ने महात्माको तो दुर्लभ बताया है—**'स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७। १९), पर यहाँ अपनेको सुलभ बताया है। इसका तात्पर्य है कि संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके तत्त्वको जानकर उनके शरण होनेवाले भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्‌को ढूँढ़े तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा—

हरि दुरलभ नहिं जगतमें, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान् कृपा करके जो मनुष्यशरीर देते हैं, उस शरीरसे जीव अनेक योनियोंमें तथा नरकोंमें भी जा सकता है। परन्तु भक्त कृपा करके भगवान्‌की ही प्राप्ति कराता है—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

वास्तवमें जो नित्यप्राप्त है, उसमें सुलभता-दुर्लभता कहना बनता ही नहीं। परन्तु लोगोंने उसको दुर्लभ (कठिन) मान रखा है, इस वृत्तिको हटानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसकी खुदकी सत्ता है ही नहीं, उस असत् (शरीर-संसार) को सत्ता और महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्यप्राप्त परमात्मा दुर्लभ हो रहे हैं। असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। असत् है और वह अपना तथा अपने लिये है—ऐसा मानना ही असत्‌को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें भगवान् अपनी प्राप्तिका माहात्म्य बताते हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

महात्मानः = महात्मालोग
माम् = मुझे
उपेत्य = प्राप्त करके
दुःखालयम् = दुःखालय अर्थात् दुःखोंके घर (और)
अशाश्वतम् = अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलनेवाले
पुनर्जन्म = पुनर्जन्मको
न, आप्नुवन्ति = प्राप्त नहीं होते; (क्योंकि वे)

परमाम्	= परम	**गताः**	= प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम	प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है।
संसिद्धिम्	= सिद्धिको			

व्याख्या—'**मामुपेत्य पुनर्जन्म .... संसिद्धिं परमां गताः**'—'**मामुपेत्य**' का तात्पर्य है कि भगवान्‌के दर्शन कर ले, भगवान्‌को तत्त्वसे जान ले अथवा भगवान्‌में प्रविष्ट हो जाय तो फिर पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्मका अर्थ है—फिर शरीर धारण करना। वह शरीर चाहे मनुष्यका हो, चाहे पशु-पक्षी आदि किसी प्राणीका हो, पर उसे धारण करनेमें दुःख-ही-दुःख है। इसलिये पुनर्जन्मको दुःखालय अर्थात् दुःखोंका घर कहा गया है।

मरनेके बाद यह प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार जिस योनिमें जन्म लेता है, वहाँ जन्म-कालमें जेरसे बाहर आते समय उसको वैसा कष्ट होता है, जैसा कष्ट मनुष्यको शरीरकी चमड़ी उतारते समय होता है। परन्तु उस समय वह अपना कष्ट, दुःख किसीको बता नहीं सकता, क्योंकि वह उस अवस्थामें महान् असमर्थ होता है। जन्मके बाद बालक सर्वथा परतन्त्र होता है। कोई भी कष्ट होनेपर वह रोता रहता है,—पर बता नहीं सकता। थोड़ा बड़ा होनेपर उसको खाने-पीनेकी चीजें, खिलौने आदिकी इच्छा होती है और उनकी पूर्ति न होनेपर बड़ा दुःख होता है। पढ़ाईके समय शासनमें रहना पड़ता है। रातों जागकर अभ्यास करना पड़ता है तो कष्ट होता है। विद्या भूल जाती है तथा पूछनेपर उत्तर नहीं आता तो दुःख होता है। आपसमें ईर्ष्या, द्वेष, डाह, अभिमान आदिके कारण हृदयमें जलन होती है। परीक्षामें फेल हो जाय तो मूर्खताके कारण उसका इतना दुःख होता है कि कई आत्महत्यातक कर लेते हैं।

जवान होनेपर अपनी इच्छाके अनुसार विवाह आदि न होनेसे दुःख होता है। विवाह हो जाता है तो पत्नी अथवा पति अनुकूल न मिलनेसे दुःख होता है। बाल-बच्चे हो जाते हैं तो उनका पालन-पोषण करनेमें कष्ट होता है। लड़कियाँ बड़ी हो जाती हैं तो उनका जल्दी विवाह न होनेपर माँ-बापकी नींद उड़ जाती है, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, हरदम बेचैनी रहती है।

वृद्धावस्था आनेपर शरीरमें असमर्थता आ जाती है। अनेक प्रकारके रोगोंका आक्रमण होने लगता है। सुखसे उठना-बैठना, चलना-फिरना, खाना-पीना आदि भी कठिन हो जाता है। घरवालोंके द्वारा तिरस्कार होने लगता है। उनके अपशब्द सुनने पड़ते हैं। रातमें खाँसी आती है। नींद नहीं आती। मरनेके समय भी बड़े भयंकर कष्ट होते हैं। ऐसे दुःख कहाँतक कहें? उनका कोई अन्त नहीं।

मनुष्य-जैसा ही कष्ट पशु-पक्षी आदिको भी होता है। उनको शीत-घाम, वर्षा-हवा आदिसे कष्ट होता है। बहुत-से जंगली जानवर उनके छोटे बच्चोंको खा जाते हैं तो उनको बड़ा दुःख होता है। इस प्रकार सभी योनियोंमें अनेक तरहके दुःख होते हैं। ऐसे ही नरकोंमें और चौरासी लाख योनियोंमें दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये पुनर्जन्मको 'दुःखालय' कहा गया है।

पुनर्जन्मको 'अशाश्वत' कहनेका तात्पर्य है कि कोई भी पुनर्जन्म (शरीर) निरन्तर नहीं रहता। उसमें हरदम परिवर्तन होता रहता है। कहीं किसी भी योनिमें स्थायी रहना नहीं होता। थोड़ा सुख मिल भी जाता है तो वह भी चला जाता है और शरीरका भी अन्त हो जाता है। नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसी पुनर्जन्मको मौतका रास्ता कहा है—'**मृत्युसंसारवर्त्मनि।**'

यहाँ भगवान्‌को 'मेरी प्राप्ति होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता'—इतना ही कहना पर्याप्त था, फिर भी पुनर्जन्मके साथ 'दुःखालय' और 'अशाश्वत'—ये दो विशेषण क्यों दिये गये? ये दो विशेषण देनेसे यह एक भाव निकलता है कि जैसे भगवान् भक्तजनोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये पृथ्वीपर अवतार लेते हैं, ऐसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए भक्तलोग भी साधु पुरुषोंकी रक्षा, दुष्टोंकी सेवा और धर्मका अच्छी तरहसे पालन करने तथा करवानेके लिये कारक पुरुषके रूपमें, सन्तके रूपमें इस पृथ्वीपर जन्म ले सकते हैं* अथवा जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब उनके साथ पार्षदके रूपमें भी (ग्वालबालोंकी तरह) वे भक्तजन पृथ्वीपर जन्म ले सकते हैं। परन्तु उन भक्तोंका यह जन्म दुःखालय और अशाश्वत नहीं होता; क्योंकि उनका जन्म कर्मजन्य नहीं होता, प्रत्युत

---

* **सन्तोंने कहा है—**

परित्राणाय साधूनां सेवां कर्तुं च दुष्कृताम्। धर्मसम्पालनार्थाय सम्भवन्ति कलौ युगे॥

भगवदिच्छासे होता है।

जो आरम्भसे ही भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी भगवान्‌ने 'महात्मा' कहा है (नवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), जो भगवत्तत्त्वसे अभिन्न हो जाते हैं, उनको भी 'महात्मा' कहा है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और जो वास्तविक प्रेमको प्राप्त हो जाते हैं, उनको भी 'महात्मा' कहा है (आठवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि असत् शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे मनुष्य 'अल्पात्मा' होते हैं; क्योंकि वे शरीर-संसारके आश्रित होते हैं। अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर वे 'आत्मा' होते हैं; क्योंकि उनमें अणुरूपसे 'अहम्' की गंध रहनेकी संभावना होती है। भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेपर वे 'महात्मा' होते हैं; क्योंकि वे भगवन्निष्ठ होते हैं, उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योगोंमें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। केवल भक्तियोगमें ही भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि गीतामें भगवान् भक्तिको ही सर्वोपरि मानते हैं।

महात्माओंका पुनर्जन्मको प्राप्त न होनेका कारण यह है कि वे परम सिद्धिको अर्थात् परम प्रेमको प्राप्त हो गये हैं—'**संसिद्धिं* परमां गताः**।' जैसे लोभी व्यक्तिको जितना धन मिलता है, उतना ही उसको थोड़ा मालूम देता है और उसकी धनकी भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, ऐसे ही अपने अंशी भगवान्‌को पहचान लेनेपर भक्तमें प्रेमकी भूख बढ़ती रहती है, उसको प्रतिक्षण वर्धमान, असीम, अगाध, अनन्त प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। यह प्रेम भक्तिकी अन्तिम सिद्धि है। इसके समान दूसरी कोई सिद्धि है ही नहीं।

विशेष बात

गीताका अध्ययन करनेसे ऐसा असर पड़ता है कि भगवान्‌ने गीतामें अपनी भक्तिकी बहुत विशेषतासे महिमा गायी है। भगवान्‌ने भक्तको सम्पूर्ण योगियोंमें युक्ततम (सबसे श्रेष्ठ) कहा है (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक) और अपने-आपको भक्तके लिये सुलभ बताया है (आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। परन्तु अपने आग्रहका त्याग करके कोई भी साधक केवल कर्मयोग, केवल ज्ञानयोग अथवा केवल भक्तियोगका अनुष्ठान करे तो अन्तमें वह एक ही तत्त्वको प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि साधकोंकी दृष्टिमें तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद हैं, पर साध्यतत्त्व एक ही है। साध्यतत्त्वमें भिन्नता नहीं है। परन्तु इसमें एक बात विचार करनेकी है कि जिस दर्शनमें ईश्वर, भगवान्, परमात्मा सर्वोपरि हैं—ऐसी मान्यता नहीं है, उस दर्शनके अनुसार चलनेवाले असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके मुक्त तो हो जाते हैं; पर अपने अंशीकी स्वीकृतिके बिना उनको परम प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती और परम प्रेमकी प्राप्तिके बिना उनको प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द नहीं मिलता। उस प्रतिक्षण वर्धमान आनन्दको, प्रेमको प्राप्त होना ही यहाँ परमसिद्धिको प्राप्त होना है।

परिशिष्ट भाव—गीताके सातवें अध्यायमें तो संसारको परमात्माका स्वरूप कहा गया है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), पर यहाँ उसको दुःखालय अर्थात् दुःखोंका घर कहा गया है—'**दुःखालयम्**'। इसका तात्पर्य है कि जो मनुष्य सांसारिक वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दुःख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। सुखकी आशा, कामना और भोग महान् दुःखोंके कारण हैं। सुख भोगनेवाला दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं—यह अकाट्य नियम है। इसलिये वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेना ही नहीं है। जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

जीव उस समग्र परमात्माका अंश है, जिसके रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं! पर जीव फँस गया अपरा प्रकृतिके तुच्छ-से-तुच्छ अंश एक शरीरमें! इसलिये जहाँ कोरा आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ जीव कोरा दुःख-ही-दुःख पा रहा है। जैसे—गायके थनोंमें जहाँ केवल दूध-ही-दूध है, वहाँ रहकर चींचड़ केवल खून-ही-खून पीता है। गोस्वामी तुलसीदासजी

*** यहाँ 'सिद्धि' शब्दके साथ 'सम्' उपसर्ग और 'परमाम्' विशेषण देनेका तात्पर्य है कि इससे बढ़कर कोई भी सिद्धि नहीं है। कारण कि जीव भगवान्‌का अंश है और जब वह सर्वथा भगवान्‌के समर्पित हो जाता है, तब कोई भी सिद्धि बाकी नहीं रहती।**

महाराज कहते हैं—

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा।
बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ (विनयपत्रिका १३६। २)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!		पुनः लौटकर	**माम्**	=मुझे
आब्रह्मभुवनात्	= ब्रह्मलोकतक		संसारमें आना	**उपेत्य**	=प्राप्त होनेपर
लोकाः	=सभी लोक		पड़ता है;	**पुनर्जन्म**	=पुनर्जन्म
पुनरावर्तिनः	=पुनरावर्तीवाले हैं	**तु**	=परन्तु	**न**	=नहीं
	अर्थात् वहाँ जानेपर	**कौन्तेय**	=हे कौन्तेय!	**विद्यते**	=होता।

व्याख्या—*'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**'—हे अर्जुन! ब्रह्माजीके लोकको लेकर सभी लोक पुनरावर्ती हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक और उससे नीचेके जितने लोक (सुखभोग-भूमियाँ) हैं, उनमें रहनेवाले सभी प्राणियोंको उन-उन लोकोंके प्रापक पुण्य समाप्त हो जानेपर लौटकर आना ही पड़ता है।

जितनी भी भोग-भूमियाँ हैं, उन सबमें ब्रह्मलोकको श्रेष्ठ बताया गया है। मात्र पृथ्वीमण्डलका राजा हो और उसका धन-धान्यसे सम्पन्न राज्य हो, स्त्री-पुरुष, परिवार आदि सभी उसके अनुकूल हों, उसकी युवावस्था हो तथा शरीर नीरोग हो—यह मृत्युलोकका पूर्ण सुख माना गया है। मृत्युलोकके सुखसे सौ गुणा अधिक सुख मर्त्य देवताओंका है। मर्त्य देवता उनको कहते हैं, जो पुण्यकर्म करके देवलोकको प्राप्त होते हैं और देवलोकके प्रापक पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इन मर्त्य देवताओंसे सौ गुणा अधिक सुख आजान देवताओंका है। आजान देवता वे कहलाते हैं, जो कल्पके आदिमें देवता बने हैं और कल्पके अन्ततक देवता बने रहेंगे। इन आजान देवताओंसे सौ गुणा अधिक सुख इन्द्रका माना गया है। इन्द्रके सुखसे सौ गुणा अधिक सुख ब्रह्मलोकका माना गया है। इस ब्रह्मलोकके सुखसे भी अनन्त गुणा अधिक सुख भगवत्प्राप्त, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषका माना गया है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीमण्डलसे लेकर ब्रह्मलोकतकका सुख सीमित, परिवर्तनशील और विनाशी है। परन्तु भगवत्प्राप्तिका सुख अनन्त है, अपार है, अगाध है। यह सुख कभी नष्ट नहीं होता। अनन्त ब्रह्मा और अनन्त ब्रह्माण्ड समाप्त हो जायँ, तो भी यह परमात्मप्राप्तिका सुख कभी नष्ट नहीं होता, सदा बना रहता है।

'**पुनरावर्तिनः**' का एक भाव यह भी है कि ये प्राणी साक्षात् परमात्माके अंश होनेके कारण नित्य हैं। अतः ये जबतक नित्य तत्त्व परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेते, तबतक कितने ही ऊँचे लोकोंमें जानेपर भी इनको वहाँसे पीछे लौटना ही पड़ता है। अतः ब्रह्मलोक आदि ऊँचे लोकोंमें जानेवाले भी पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि सन्तों, भक्तों, जीवन्मुक्तों और कारकपुरुषोंके दर्शनमात्रसे जीवका कल्याण हो जाता है और ब्रह्माजी स्वयं कारकपुरुष हैं तथा भगवान्‌के भक्त भी हैं। ब्रह्मलोकमें जानेवाले ब्रह्माजीके दर्शन करते ही हैं, फिर उनकी मुक्ति क्यों नहीं होती? वे लौटकर क्यों आते हैं? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें कल्याण दर्शनमात्रसे नहीं होता, प्रत्युत अपनी भावना विशेष होनेसे होता है। इसके सिवाय सन्त, भक्त आदिके दर्शन, सम्भाषण, चिन्तन आदिका माहात्म्य इस मृत्युलोकके मनुष्योंके लिये ही है। कारण कि यह मनुष्य-शरीर केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः मनुष्यको भगवत्प्राप्तिका कोई भी और किंचिन्मात्र भी मुक्तिका उपाय मिल जाता है तो अपनी भावनाके अनुसार वह मुक्त हो सकता है। ऐसा मुक्तिका अधिकार अन्य लोकोंमें नहीं है, इसलिये वे मुक्त नहीं होते।

*** 'आब्रह्मभुवनात्' पदमें जो 'आ' शब्द आया है, उसके दो अर्थ होते हैं—(१) अभिविधि—जैसे, ब्रह्मलोकको लेकर सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तथा उससे नीचेके सभी लोक। (२) मर्यादा—जैसे ब्रह्मलोकको छोड़कर नीचेके सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोकसे नीचेके सभी लोक। यहाँ 'आ' शब्द 'अभिविधि' अर्थमें आया है।**

हाँ, उन लोकोंमें रहनेवालोंमें किसीकी मुक्त होनेके लिये तीव्र लालसा हो जाती है तो वह भी मुक्त हो जाता है। ऐसे ही पशु-पक्षियोंमें भी भक्त हुए हैं, पर ये दोनों ही अपवादरूपसे हैं, अधिकारीरूपसे नहीं। अगर वहाँके लोग भी अधिकारी माने जायँ तो नरकोंमें जानेवाले सभीकी मुक्ति हो जानी चाहिये; क्योंकि उन सभी प्राणियोंको परम भागवत, कारकपुरुष यमराजके दर्शन होते ही हैं? पर ऐसा शास्त्रोंमें न देखा और न सुना ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उन-उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणियोंका भक्त आदिके दर्शनसे कल्याण नहीं होता।

विशेष बात

यह जीव साक्षात् परमात्माका अंश है—**'ममैवांशः'** और जहाँ जानेके बाद फिर लौटकर नहीं आना पड़ता, वह परमात्माका धाम है—**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'** जैसे कोई अपने घरपर जाता है, ऐसे ही परमात्माका अंश होनेसे इस जीवको वहीं (परमधाममें) जाना चाहिये। फिर भी यह जीव मरनेके बाद लौटकर क्यों आता है?

जैसे कोई मनुष्य सत्संग आदिमें जाता है और समय पूरा होनेपर वहाँसे चल देता है। परन्तु चलते समय उसकी कोई वस्तु (चद्दर आदि) भूलसे वहाँ रह जाय तो उसको लेनेके लिये उसे फिर लौटकर वहाँ आना पड़ता है। ऐसे ही इस जीवने घर, परिवार, जमीन, धन आदि जिन चीजोंमें ममता कर ली है, अपनापन कर लिया है, उस ममता-(अपनापन-) के कारण इस जीवको मरनेके बाद फिर लौटकर आना पड़ता है। कारण कि जिस शरीरमें रहते हुए संसारमें ममता-आसक्ति की थी, वह शरीर तो रहता नहीं, न चाहते हुए भी छूट जाता है। परन्तु उस ममता-(वासना-) के कारण दूसरा शरीर धारण करके यहाँ आना पड़ता है। वह मनुष्य बनकर भी आ सकता है और पशु-पक्षी आदि बनकर भी आ सकता है। उसको लौटकर आना पड़ता है—यह बात निश्चित है। भगवान्‌ने कहा है कि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणोंका संग ही है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (१३। २१) अर्थात् जो संसारमें ममता, आसक्ति, कामना करेगा उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ेगा।

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'— ब्रह्मलोकतक जानेवाले सभीको पुनर्जन्म लेना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! समग्ररूपसे मेरी प्राप्ति होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् मेरेको प्राप्त होनेपर फिर संसारमें, जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आना पड़ता। कारण कि मैं कालातीत हूँ; अतः मेरेको प्राप्त होनेपर वे भी कालातीत हो जाते हैं। यहाँ **'मामुपेत्य'** का अर्थ है कि मेरे दर्शन हो जायँ, मेरे स्वरूपका बोध हो जाय और मेरेमें प्रवेश हो जाय (गीता—ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)।

मेरेको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म क्यों नहीं होता अर्थात् जीव लौटकर संसारमें क्यों नहीं आता? क्योंकि जीव मेरा अंश है और मेरा परमधाम ही इसका वास्तविक घर है। ब्रह्मलोक आदि लोक इसका घर नहीं है, इसलिये इसको वहाँसे लौटना पड़ता है। जैसे रेलगाड़ीका जहाँतकका टिकट होता है, वहाँतक ही मनुष्य उसमें बैठ सकता है। उसके बाद उसे उतरना ही पड़ता है। परन्तु वह अगर अपने घरमें बैठा हो तो उसे उतरना नहीं पड़ता। ऐसे ही जो देवताओंके लोकमें गया है, वह मानो रेलगाड़ीमें बैठा हुआ है। इसलिये उसको एक दिन नीचे उतरना ही पड़ेगा। परन्तु जो मेरेको प्राप्त हो गया है, वह अपने घरमें बैठा हुआ है। इसलिये उसको कभी उतरना नहीं पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को प्राप्त किये बिना ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें जानेपर भी कल्याण नहीं होता। अतः साधकको ऊँचे लोकोंके भोगोंकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

ब्रह्मलोकतक जाकर फिर पीछे लौटकर आनेवाले अर्थात् जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़नेवाले पुरुष आसुरी-सम्पत्तिवाले होते हैं; क्योंकि आसुरी-सम्पत्तिसे ही बन्धन होता है—**'निबन्धायासुरी मता।'** इसलिये ब्रह्मलोकतक बन्धन-ही-बन्धन है। परन्तु मेरे शरण होनेवाले, मुझे प्राप्त होनेवाले पुरुष दैवी-सम्पत्तिवाले होते हैं। उनका फिर जन्म-मरण नहीं होता; क्योंकि दैवी-सम्पत्तिसे मोक्ष होता है—**'दैवी संपद्विमोक्षाय'** (गीता १६। ५)।

विशेष बात

ब्रह्मलोकमें जानेवाले पुरुष दो तरहके होते हैं—एक तो जो ब्रह्मलोकके सुखका उद्देश्य रखकर यहाँ बड़े-बड़े पुण्यकर्म करते हैं तथा उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोकका सुख भोगनेके लिये ब्रह्मलोकमें जाते हैं; और दूसरे, जो परमात्मप्राप्तिके लिये ही तत्परतापूर्वक साधनमें लगे हुए हैं; परन्तु प्राणोंके रहते-रहते परमात्मप्राप्ति हुई नहीं और

अन्तकालमें भी किसी कारण-विशेषसे साधनसे विचलित हो गये, तो वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं और वहाँ रहकर महाप्रलयमें ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाते हैं। इन साधकोंका ब्रह्मलोकके सुखभोगका उद्देश्य नहीं होता; किन्तु अन्तकालमें साधनसे विमुख होनेसे तथा अन्त:करणमें सुखभोगकी किंचिन्मात्र इच्छा रहनेसे ही उनको ब्रह्मलोकमें जाना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मलोकका सुख भोगकर ब्रह्माजीके साथ मुक्त होनेको 'क्रम-मुक्ति' कहते हैं। परन्तु जिन साधकोंको यहीं बोध हो जाता है, वे यहाँ ही मुक्त हो जाते हैं। इसको 'सद्योमुक्ति' कहते हैं।

इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें अर्जुनका प्रश्न था कि अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं? इसका उत्तर भगवान्ने पाँचवें श्लोकमें दिया। फिर छठे श्लोकमें अन्तकालीन गतिका सामान्य नियम बताया और सातवें श्लोकमें अर्जुनको सब समयमें स्मरण करनेकी आज्ञा दी। इस सातवें श्लोकसे चौदहवें श्लोकका सम्बन्ध है। बीचमें (आठवेंसे तेरहवें श्लोकतक) सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारकी बात प्रसंगसे आ गयी है।

आठवेंसे सोलहवें श्लोकतकके नौ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि पूर्ण परमात्मा हैं। वे ही समग्र परमात्मा हैं। उनके अन्तर्गत ही सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार आ जाते हैं। अत: इनका प्रेम प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ कोई शंका कर सकता है कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक भगवान्के ही स्वरूप हैं—**'वासुदेवः सर्वम्',** फिर उन लोकोंमें जानेवालोंका संसारमें पुनर्जन्म क्यों होता है? इसका समाधान है कि उन लोकोंमें जानेवाले मनुष्य उन लोकोंको भगवान्का स्वरूप नहीं समझते, प्रत्युत भोग-सामग्री समझते हैं (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। वे सुखभोगके उद्देश्यसे ही ब्रह्मलोक आदिमें जाते हैं। इसलिये उनको कर्मफलके रूपमें ब्रह्मलोकतकके लोकोंकी प्राप्ति होती है और उनका पुनर्जन्म मिटता नहीं।

पुनर्जन्म सुखासक्तिके कारण ही होता है। इसलिये यहाँ **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः'** कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक सुखोंकी आखिरी हद जो 'ब्रह्मलोक' है, वहाँ जानेपर भी जीवको लौटना ही पड़ता है। अनन्त ब्रह्माण्डोंका सुख मिलकर भी जीवको सुखी नहीं कर सकता, उसकी आफत, जन्म-मरण नहीं मिटा सकता। अत: संसारसे सुखकी आशा करनेवाला केवल धोखेमें रहता है।

ब्रह्मलोकमें दो प्रकारके मनुष्य जाते हैं—एक तो सुखभोगके लिये ब्रह्मलोक जाते हैं और फिर लौटकर संसारमें आते हैं और दूसरे क्रममुक्तिवाले ब्रह्मलोक जाते हैं और ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं (गीता—आठवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। वे (क्रममुक्तिवाले) लौटकर संसारमें नहीं आते तो यह उनके उद्देश्यकी महिमा है, ब्रह्मलोककी महिमा नहीं है। ब्रह्मलोक तो पुनरावर्ती ही है; क्योंकि वहाँ कोई भी सदा नहीं रह सकता, न भोगी सदा रहता है, न योगी (क्रममुक्तिवाला) सदा रहता है। ब्रह्मलोकतक सब कर्मफल है। जब कर्ममात्र आदि-अन्तवाला (नाशवान्) होता है तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे हो सकता है?

'मामुपेत्य' में **'माम्'** पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा—दोनोंका मालिक है। उसको प्राप्त होनेके बाद फिर दु:खालय संसारमें जन्म नहीं होता। हाँ, उनको प्राप्त हुए मनुष्य उनकी इच्छासे कारक महापुरुषके रूपमें अथवा भगवान्के अवतारके समय संसारमें आ सकते हैं। परन्तु उनका वह जन्म कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्की इच्छासे होता है।

सम्बन्ध—ब्रह्मलोकमें जानेवाले भी पीछे लौटकर आते हैं—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

यत्	= जो मनुष्य	**पर्यन्तम्**	= एक हजार चतुर्युगीवाले		(और)
ब्रह्मणः	= ब्रह्माके	**अहः**	= एक दिनको	**युग-**	
सहस्रयुग-				**सहस्रान्ताम्**	= एक हजार

	चतुर्युगीवाली	**ते**	= वे		दिन और
रात्रिम्	= एक रात्रिको	**जनाः**	= मनुष्य		रातको जानने-
विदुः	= जानते हैं,	**अहोरात्रविदः**	= ब्रह्माके		वाले हैं।

व्याख्या—'**सहस्रयुगपर्यन्तम्** .... **तेऽहोरात्रविदो जनाः**'—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—मृत्युलोकके इन चार युगोंको एक चतुर्युगी कहते हैं। ऐसी एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है और एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माजीकी एक रात होती है*। दिन-रातकी इसी गणनाके अनुसार सौ वर्षोंकी ब्रह्माजीकी आयु होती है। ब्रह्माजीकी आयुके सौ वर्ष बीतनेपर ब्रह्माजी परमात्मामें लीन हो जाते हैं और उनका ब्रह्मलोक भी प्रकृतिमें लीन हो जाता है तथा प्रकृति परमात्मामें लीन हो जाती है।

कितनी ही बड़ी आयु क्यों न हो, वह भी कालकी अवधिवाली ही है। ऊँचे-से-ऊँचे कहे जानेवाले जो भोग हैं, वे भी संयोगजन्य होनेसे दुःखोंके ही कारण हैं—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**' (गीता ५। २२) और कालकी अवधिवाले हैं। केवल भगवान् ही कालातीत हैं। इस प्रकार कालके तत्त्वको जाननेवाले मनुष्य ब्रह्मलोकतकके दिव्य भोगोंको किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं देते।

सम्बन्ध—ब्रह्माजीके दिन और रातको लेकर जो सर्ग और प्रलय होते हैं, उसका वर्णन अब आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

अहरागमे	= ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें	**व्यक्तयः**	= शरीर	**अव्यक्तसञ्ज्ञके,**	= अव्यक्त नामवाले-
अव्यक्तात्	= अव्यक्त-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**प्रभवन्ति**	= पैदा होते हैं (और)	**एव**	(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) में ही
सर्वाः	= सम्पूर्ण	**रात्र्यागमे**	= ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें	**प्रलीयन्ते**	= (सम्पूर्ण शरीर) लीन हो जाते हैं।
		तत्र	= उस		

* अत्यन्त सूक्ष्म काल है—परमाणु। दो परमाणुओंका एक अणु और तीन अणुओंका एक त्रसरेणु होता है। झरोखेसे आयी सूर्य-किरणोंमें त्रसरेणु उड़ते हुए दीखते हैं। ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्य जितना समय लेता है, उसे त्रुटि कहते हैं। सौ त्रुटियोंका एक वेध, तीन वेधोंका एक लव, तीन लवोंका एक निमेष और तीन निमेषोंका एक क्षण होता है। पाँच क्षणोंकी एक काष्ठा, पंद्रह काष्ठाओंका एक लघु, पंद्रह लघुओंकी एक नाड़िका, छः नाड़िकाओंका एक प्रहर और आठ प्रहरोंका एक दिन-रात होता है। पंद्रह दिन-रातोंका एक पक्ष, दो पक्षोंका एक मास, छः मासोंका एक अयन और दो अयनोंका एक वर्ष होता है।

इस प्रकार मनुष्योंके एक वर्षके समान देवताओंकी एक दिन-रात है अर्थात् मनुष्योंका छः महीनोंका उत्तरायण देवताओंका दिन है और छः महीनोंका दक्षिणायन देवताओंकी रात है। इस तरह देवताओंके समयका परिमाण मनुष्योंके समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुणा अधिक माना जाता है। इस हिसाबसे मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रात, मनुष्योंके तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और मनुष्योंके तीन सौ साठ वर्ष देवताओंका एक दिव्य वर्ष है। ऐसे ही मनुष्यके सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग बीतनेपर देवताओंका एक दिव्ययुग होता है अर्थात् मनुष्योंके सत्ययुगके सत्रह लाख अट्ठाईस हजार, त्रेताके बारह लाख छियानबे हजार, द्वापरके आठ लाख चौंसठ हजार और कलिके चार लाख बत्तीस हजार—ऐसे कुल तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षोंके बीतनेपर देवताओंका एक दिव्ययुग होता है। इसको 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं।

मनुष्यों और देवताओंके समयका परिमाण तो सूर्यसे होता है, पर ब्रह्माजीके दिन-रातका परिमाण देवताओंके दिव्य युगोंसे होता है अर्थात् देवताओंके एक हजार दिव्ययुगोंका (मनुष्योंके चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षोंका) ब्रह्माजीका एक दिन होता है और उतने ही दिव्ययुगोंकी एक रात होती है। ब्रह्माजीके इसी दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' कहते हैं और रातको 'प्रलय' कहते हैं।

व्याख्या—‘**अव्यक्ताद्व्यक्तय: ………… तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके**’—मात्र प्राणियोंके जितने शरीर हैं, उनको यहाँ ‘**व्यक्तय:**’ और चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें ‘**मूर्तय:**’ कहा गया है। जैसे, जीवकृत सृष्टि अर्थात् ‘मैं’ और ‘मेरापन’ को लेकर जीवकी जो सृष्टि है, जीवके नींदसे जगनेपर वह सृष्टि जीवसे ही पैदा होती है और नींदके आ जानेपर वह सृष्टि जीवमें ही लीन हो जाती है। ऐसे ही जो यह स्थूल समष्टि सृष्टि दीखती है, वह सब-की-सब ब्रह्माजीके जगनेपर उनके सूक्ष्मशरीरसे अर्थात् प्रकृतिसे पैदा होती है और ब्रह्माजीके सोनेपर उनके सूक्ष्मशरीरमें ही लीन हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्माजीके जगनेपर तो ‘सर्ग’ होता है और ब्रह्माजीके सोनेपर ‘प्रलय’ होता है। जब ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी आयु बीत जाती है, तब ‘महाप्रलय’ होता है, जिसमें ब्रह्माजी भी भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। ब्रह्माजीकी जितनी आयु होती है, उतना ही महाप्रलयका समय रहता है। महाप्रलयका समय बीतनेपर ब्रह्माजी भगवान्‌से प्रकट होते हैं तो ‘महासर्ग’का आरम्भ होता है (गीता—नवें अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं। वे पुनरावर्ती क्यों हैं? इसके उत्तरमें भगवान् सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें बताते हैं कि ऊँचे-से-ऊँचा ब्रह्मलोक भी कालकी अवधिमें है। उस अवधिका विवेचन करते हुए भगवान् बताते हैं कि ब्रह्मलोककी अवधि कितनी ही बड़ी क्यों न हो, है वह कालके अन्तर्गत ही। परन्तु भगवान् कालकी अवधिमें नहीं हैं।

जैसे हम रातको सोते हैं तो संसारको भूल जाते हैं और प्रात: जागते हैं तो संसार पुन: याद आ जाता है, ऐसे ही ब्रह्माजीके रातमें सम्पूर्ण सृष्टि लीन हो जाती है और दिनमें पुन: उत्पन्न हो जाती है। यह रात और दिनकी आखिरी हद है।

ब्रह्माजीके दिन और रात सूर्यसे नहीं होते, प्रत्युत प्रकृतिसे होते हैं।

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**अवश:**	= प्रकृतिके परवश हुआ		(और)
स:, एव	= वही			**रात्र्यागमे**	= ब्रह्माकी रात्रिके समय
अयम्	= यह	**अहरागमे**	= ब्रह्माके दिनके समय		
भूतग्राम:	= प्राणिसमुदाय			**प्रलीयते**	= लीन होता है।
भूत्वा, भूत्वा	= उत्पन्न हो-होकर	**प्रभवति**	= उत्पन्न होता है		

व्याख्या—‘**भूतग्राम: स एवायम्**’—अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ यह प्राणिसमुदाय वही है, जो कि साक्षात् मेरा अंश, मेरा स्वरूप है। मेरा सनातन अंश होनेसे यह नित्य है। सर्ग और प्रलय तथा महासर्ग और महाप्रलयमें भी यही था और आगे भी यही रहेगा। इसका न कभी अभाव हुआ है और न आगे कभी इसका अभाव होगा। तात्पर्य है कि यह अविनाशी है, इसका कभी विनाश नहीं होता। परन्तु भूलसे यह प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। प्राकृत पदार्थ (शरीर आदि) तो बदलते रहते हैं, उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, पर यह उनके सम्बन्धको पकड़े रहता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि सम्बन्धी (सांसारिक पदार्थ) तो नहीं रहते, पर उनका सम्बन्ध रहता है; क्योंकि उस सम्बन्धको स्वयंने पकड़ा है। अत: यह स्वयं जबतक उस सम्बन्धको नहीं छोड़ता, तबतक उसको दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। उस सम्बन्धको छोड़नेमें यह स्वतन्त्र है, सबल है। वास्तवमें यह उस सम्बन्धको रखनेमें सदा परतन्त्र है; क्योंकि वे पदार्थ तो हरदम बदलते रहते हैं, पर यह नया-नया सम्बन्ध पकड़ता रहता है। जैसे, बालकपनको इसने नहीं छोड़ा और न छोड़ना चाहा, पर वह छूट गया। ऐसे ही जवानीको इसने नहीं छोड़ा, पर वह छूट गयी। और तो क्या, यह शरीरको भी छोड़ना नहीं चाहता, पर वह भी छूट जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्राकृत पदार्थ तो छूटते ही रहते हैं, पर यह जीव उन पदार्थोंके साथ अपने सम्बन्धको बनाये रखता है, जिससे इसको बार-बार शरीर धारण करने पड़ते हैं, बार-बार जन्मना-मरना पड़ता है। जबतक यह उस माने हुए सम्बन्धको नहीं छोड़ेगा, तबतक यह जन्म-मरणकी परम्परा चलती ही रहेगी, कभी मिटेगी नहीं।

भगवान्‌के द्वारा अकेले खेल नहीं हुआ (**'एकाकी न रमते'**) तो खेल खेलनेके लिये अर्थात् प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये भगवान्‌ने इस प्राणिसमुदायको शरीर-रूप खिलौनेके सहित प्रकट किया। खेलका यह नियम होता है कि खेलके पदार्थ केवल खेलनेके लिये ही होते हैं, किसीके व्यक्तिगत नहीं होते। परन्तु यह प्राणिसमुदाय खेल खेलना तो भूल गया और खेलके पदार्थोंको अर्थात् शरीरोंको व्यक्तिगत मानने लग गया। इसीसे यह उनमें फँस गया और भगवान्‌से सर्वथा विमुख हो गया।

'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'—ये पद शरीरोंके लिये कहे गये हैं, जो कि उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं अर्थात् जिनमें प्रतिक्षण ही परिवर्तन होता रहता है। परन्तु जीव उन शरीरोंके परिवर्तनको अपना परिवर्तन और उनके जन्मने-मरनेको अपना जन्म-मरण मानता रहता है। इसी मान्यताके कारण उसका जन्म-मरण कहा जाता है।

यह स्वयं सत्स्वरूप है—**'भूतग्रामः स एवायम्'** और शरीर उत्पत्ति-विनाशशील हैं—**'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'**, इसलिये शरीरोंको धारण करना अर्थात् जन्म-मरणका होना परधर्म है और मुक्त होना स्वधर्म है।

'रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे'—यहाँ **'अवशः'** कहनेका तात्पर्य है कि अगर यह जीव प्रकृतिकी वस्तुओंमेंसे किसी भी वस्तुको अपनी मानता रहेगा तो उसको वहम तो यह होगा कि 'मैं इस वस्तुका मालिक हूँ', पर हो जायगा उस वस्तुके परवश, पराधीन। प्राकृत पदार्थोंको यह जितना ही अधिक ग्रहण करेगा, उतना ही यह महान् परतन्त्र बनता चला जायगा। फिर इसकी परतन्त्रता कभी छूटेगी ही नहीं। ब्रह्माजीके जगने और सोनेपर अर्थात् सर्ग और प्रलयके होनेपर (आठवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), ब्रह्माजीके प्रकट और लीन होनेपर अर्थात् महासर्ग और महाप्रलयके होनेपर (नवें अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक) तथा वर्तमानमें प्रकृतिके परवश होकर कर्म करते रहनेपर (तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) भी यह जीव 'जन्मना और मरना तथा कर्म करना और उसका फल भोगना'—इस आफतसे कभी छूटेगा ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, बोध नहीं होता और यह प्रकृतिके सम्बन्धको नहीं छोड़ता, तबतक परतन्त्र होनेके कारण यह दुःखरूप जन्म-मरणके चक्करसे छूट नहीं सकता। परन्तु जब इसकी प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशता मिट जाती है अर्थात् इसको प्रकृतिके सम्बन्धसे सर्वथा रहित अपने शुद्ध स्वरूपका बोध हो जाता है, तो फिर यह महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होता और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होता—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

मूलमें परवशता प्रकृतिजन्य पदार्थोंको महत्त्व देने, उनको स्वीकार करनेमें ही है। इस परवशताको ही कहीं कालकी, कहीं स्वभावकी, कहीं कर्मकी और कहीं गुणोंकी परवशताके नामसे कहा गया है।

इस प्राणिसमुदायकी यह परवशता तभीतक रहती है, जबतक यह प्राकृत पदार्थोंके संयोगसे सुख लेना चाहता है। इस संयोगजन्य सुखकी इच्छासे ही यह पराधीनता भोगता रहता है और ऐसा मानता रहता है कि यह पराधीनता छूटती नहीं, इसको छोड़ना बड़ा कठिन है। परन्तु यह परवशता इसकी ही बनायी हुई है, स्वतः नहीं है। अतः इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी इसीपर है। इसको यह जब चाहे, तभी छोड़ सकता है।

परिशिष्ट भाव—एक विभाग बदलनेवाले संसारका है और एक विभाग न बदलनेवाली चिन्मय सत्ताका है। जो अनादिकालसे जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़ा हुआ है, वही यह जीव-समुदाय बार-बार उत्पन्न और लीन होता है। ब्रह्माके दिन और रातके बीचमें भी जीव निरन्तर जन्म लेता और मरता रहता है। तात्पर्य है कि जो बार-बार उत्पन्न और लीन होता है, वह संसार है और जो वही रहता है (जो पहले सर्गावस्थामें था), वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता है, जो परमात्माका साक्षात् अंश है। ब्रह्माजीके कितने ही रात-दिन बीत जायँ, पर जीव स्वयं वही-का-वही रहता है।

चिन्मय सत्ता (चितिशक्ति) अर्थात् स्वयंमें स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् जड़ताको स्वीकार करनेसे ही वह जन्मता-मरता है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। यदि वह इस सामर्थ्यका दुरुपयोग न करे तो उसका जन्म-मरण हो ही नहीं सकता। अतः जीवका खास पुरुषार्थ है—जड़ताको स्वीकार न करना अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित होना अथवा अपने अंशी भगवान्‌के शरण होना। जड़तामें अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थितिमें परिवर्तन होता है, अपनेमें (अपने होनेपनमें) कभी परिवर्तन नहीं होता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। परन्तु ऐसा अनुभव होते हुए भी मनुष्य सुखासक्तिके कारण जड़तासे बँधा रहता है, जिससे

उसको अपने सहज स्वरूपका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत वह पशु-पक्षी आदिकी तरह अपने स्वरूपको भूला रहता है।

'अवशः' अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे जीव परवश, पराधीन हो जाता है—**'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'** (गीता ९। ८)*। अतः प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध छूटनेपर यह स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जाता है।

हमारी सत्ता अपरा प्रकृतिके अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है तथा प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इन तीनों-(वस्तु, व्यक्ति और क्रिया-) को जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ता-(होनेपन-) का कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। यह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वतः ज्यों-की-त्यों रहती है—**'भूतग्रामः स एवायम्।'** इस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। इस सत्तामें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही मुक्ति (स्वाधीनता) है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे सर्वथा असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्‌में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन (मुक्त) हो जायँगे। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

परमात्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं, जो चित्स्वरूप हैं। माया-(प्रकृति-) में भी अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे जड़स्वरूप तथा परिवर्तनशील हैं—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'** (९। १०)। सबसे विलक्षण शक्ति भगवत्प्रेममें है। परन्तु मुक्ति-(स्वाधीनता-) में सन्तोष करनेसे वह प्रेम प्रकट नहीं होता। जड़ताके सम्बन्धसे ही परवशता होती है और मुक्त होनेपर वह परवशता सर्वथा मिट जाती है और जीव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु प्रेम इस स्वाधीनतासे भी विशेष विलक्षण है। स्वाधीनता-(मुक्ति-) में अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है।

ज्ञानयोगी तो स्वाधीन होता है और भक्त प्रेमी होता है। भक्तियोगमें भक्त भगवान्‌के पराधीन नहीं होता; क्योंकि भगवान् परकीय नहीं हैं, प्रत्युत स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता होती है।

भगवान् तो स्वाधीन-से-स्वाधीन हैं। जीव ही जड़ताके पराधीन हो जाता है। उस पराधीनताको मिटानेसे वह स्वाधीन हो जाता है। परन्तु भगवान्‌के शरण होनेसे वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन अर्थात् परम स्वाधीन हो जाता है। भगवान्‌की अधीनता परम स्वाधीनता है, जिसमें भगवान् भी भक्तके अधीन हो जाते हैं—**'अहं भक्तपराधीनः'** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)।

सम्बन्ध—अनित्य संसारका वर्णन करके अब आगेके श्लोकमें जीवोंके प्रापणीय परमात्माकी महिमाका विशेष वर्णन करते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

तु	= परन्तु	**सनातनः**	= अनादि	**सः**	= वह
तस्मात्	= उस	**परः**	= अत्यन्त श्रेष्ठ	**सर्वेषु**	= सम्पूर्ण
अव्यक्तात्	= अव्यक्त-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**भावः**	= भावरूप	**भूतेषु**	= प्राणियोंके
		यः	= जो	**नश्यत्सु**	= नष्ट होनेपर भी
अन्यः	= अन्य (विलक्षण)	**अव्यक्तः**	= अव्यक्त (ईश्वर) है,	**न, विनश्यति**	= नष्ट नहीं होता।

*** यहाँ (८। १९ में) और नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें—दोनों जगह 'भूतग्राम' और 'अवश' शब्द आये हैं। फर्क इतना है कि यहाँ सर्ग तथा प्रलयका वर्णन है, वहाँ (९। ८ में) महासर्ग तथा महाप्रलयका वर्णन है।**

व्याख्या—**'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्-सनातनः'**—सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक ब्रह्मलोक तथा उससे नीचेके लोकोंको पुनरावर्ती कहा गया है। परन्तु परमात्मतत्त्व उनसे अत्यन्त विलक्षण है—यह बतानेके लिये यहाँ **'तु'** पद दिया गया है।

यहाँ **'अव्यक्तात्'** पद ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरका ही वाचक है। कारण कि इससे पहले अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें सर्गके आदिमें ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे प्राणियोंके पैदा होनेकी और प्रलयमें ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरमें प्राणियोंके लीन होनेकी बात कही गयी है। इस श्लोकमें आया **'तस्मात्'** पद भी ब्रह्माजीके उस सूक्ष्मशरीरका द्योतन करता है। ऐसा होनेपर भी यहाँ ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीर-(समष्टि मन, बुद्धि और अहंकार-) से भी पर अर्थात् अत्यन्त विलक्षण जो भावरूप अव्यक्त कहा गया है, वह ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीरके साथ-साथ ब्रह्माजीके कारण-शरीर-(मूल प्रकृति-) से भी अत्यन्त विलक्षण है।

ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे पर दो तत्त्व हैं—मूल प्रकृति और परमात्मा। यहाँ प्रसंग मूल प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत परमात्माका है। अतः इस श्लोकमें परमात्माको ही पर और श्रेष्ठ कहा गया है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता। आगेके श्लोकमें भी **'अव्यक्तोऽक्षर'** आदि पदोंसे उस परमात्माका ही वर्णन आया है।

गीतामें प्राणियोंके अप्रकट होनेको अव्यक्त कहा गया है—**'अव्यक्तादीनि भूतानि'** (२। २८); ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरको भी अव्यक्त कहा गया है (८। १८); प्रकृतिको भी अव्यक्त कहा गया है—**'अव्यक्तमेव च'** (१३। ५) आदि। उन सबसे परमात्माका स्वरूप विलक्षण, श्रेष्ठ है, चाहे वह स्वरूप व्यक्त हो, चाहे अव्यक्त हो। वह भावरूप है अर्थात् किसी भी कालमें उसका अभाव हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। कारण कि वह सनातन है अर्थात् वह सदासे है और सदा ही रहेगा। इसलिये वह पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता और होनेकी सम्भावना भी नहीं है।

'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति'—अब उत्तरार्धमें उसकी विलक्षणता बताते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी अर्थात् उन सम्पूर्ण शरीरोंका अभाव होनेपर भी उस परमात्मतत्त्वका कभी अभाव नहीं होता—ऐसा वह परमात्माका अव्यक्त स्वरूप है।

'न विनश्यति' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें कार्यरूपसे अनेक तरहके परिवर्तन होनेपर भी वह परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों ही अपरिवर्तनशील रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन होता ही नहीं।

परिशिष्ट भाव—एक अपरिवर्तनशील (स्थायी) तत्त्व 'परा' है और एक परिवर्तनशील (अस्थायी) तत्त्व 'अपरा' है। परामें कभी परिवर्तन होता ही नहीं और अपरामें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अपरा कभी परिवर्तनके बिना रहती ही नहीं, रह सकती ही नहीं। सर्ग और प्रलयमें तो परिवर्तन होता रहता है, महासर्ग और महाप्रलयमें भी परिवर्तन होता रहता है।

अगर परा और अपरा—दोनों ही तत्त्व अपरिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय अथवा दोनों ही परिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय! परन्तु स्वयं अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव-(परा-) ने परिवर्तनशील अपरासे सम्बन्ध जोड़ लिया, इसीसे वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गया। जगत्‌से अपना सम्बन्ध जोड़कर वह भी जगत् हो गया (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। जैसे कोई चलती हुई गाड़ीमें बैठकर चल पड़े, ऐसे ही परिवर्तनशील संसारको पकड़कर जीव भी परिवर्तनशील बन गया—अनेक योनियोंमें भटकने लग गया!

परमात्माको 'पर' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे भी श्रेष्ठ मूल प्रकृति (कारणशरीर) है और मूल प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं।

सम्बन्ध—अभीतक जो परमात्मविषयक वर्णन हुआ है, उस सबकी एकता करते हुए अनन्यभक्तिके विशेष महत्त्वका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

तम्	= उसीको	**परमाम्**	= परम	**न, निवर्तन्ते**	= फिर लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
अव्यक्तः	= अव्यक्त (और)	**गतिम्**	= गति	**तत्**	= वह
अक्षरः	= अक्षर—	**आहुः**	= कहा गया है (और)	**मम**	= मेरा
इति	= ऐसा	**यम्**	= जिसको	**परमम्**	= परम
उक्तः	= कहा गया है (तथा उसीको)	**प्राप्य**	= प्राप्त होनेपर (जीव)	**धाम**	= धाम है।

व्याख्या—**'अव्यक्तोऽक्षर'''तद्धाम परमं मम'**—भगवान्‌ने सातवें अध्यायके अट्ठाईसवें, उनतीसवें और तीसवें श्लोकमें जिसको **'माम्'**, कहा है तथा आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'अक्षरं ब्रह्म'**, चौथे श्लोकमें **'अधियज्ञः'**, पाँचवें और सातवें श्लोकमें **'माम्'**,आठवें श्लोकमें **'परमं पुरुषं दिव्यम्'**, नवें श्लोकमें **'कविं पुराणमनुशासितारम्'** आदि, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोकमें **'माम्'**, बीसवें श्लोकमें **'अव्यक्तः'** और **'सनातनः'** कहा है, उन सबकी एकता करते हुए भगवान् कहते हैं कि उसीको अव्यक्त और अक्षर कहते हैं तथा उसीको परमगति अर्थात् सर्वश्रेष्ठ गति कहते हैं; और जिसको प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है अर्थात् मेरा सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। इस प्रकार जिस प्रापणीय वस्तुको अनेक रूपोंमें कहा गया है, उसकी यहाँ एकता की गयी है। ऐसे ही चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी 'ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ' ऐसा कहकर भगवान्‌ने प्रापणीय वस्तुकी एकता की है।

लोगोंकी ऐसी धारणा रहती है कि सगुण-उपासनाका फल दूसरा है और निर्गुण-उपासनाका फल दूसरा है। इस धारणाको दूर करनेके लिये इस श्लोकमें सबकी एकताका वर्णन किया गया है। मनुष्योंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं, पर उनके अन्तिम फलमें कोई फरक नहीं होता। सबका प्रापणीय तत्त्व एक ही होता है। जैसे भोजनके प्राप्त न होनेपर अभावकी और प्राप्त होनेपर तृप्तिकी एकता होनेपर भी भोजनके पदार्थोंमें भिन्नता रहती है, ऐसे ही परमात्माके प्राप्त न होनेपर अभावकी और प्राप्त होनेपर पूर्णताकी एकता होनेपर भी उपासनाओंमें भिन्नता रहती है। तात्पर्य यह हुआ कि उस परमात्माको चाहे सगुण-निराकार मानकर उपासना करें, चाहे निर्गुण-निराकार मानकर उपासना करें और चाहे सगुण-साकार मानकर उपासना करें, अन्तमें सबको एक ही परमात्माकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मलोक आदि जितने भी लोक हैं, वे सभी पुनरावर्ती हैं अर्थात् वहाँ गये हुए प्राणियोंको फिर लौटकर जन्म-मरणके चक्करमें आना पड़ता है; क्योंकि वे सभी लोक प्रकृतिके राज्यमें हैं और विनाशी हैं। परन्तु भगवद्धाम प्रकृतिसे परे और अविनाशी है। वहाँ गये हुए प्राणियोंको गुणोंके परवश होकर लौटना नहीं पड़ता, जन्म लेना नहीं पड़ता। हाँ, भगवान् जैसे स्वेच्छासे अवतार लेते हैं, ऐसे ही वे भगवान्‌की इच्छासे लोगोंके उद्धारके लिये कारक पुरुषोंके रूपमें इस भूमण्डलपर आ सकते हैं।

परिशिष्ट भाव—अव्यक्त, अक्षर आदि नामोंकी पहुँच उस प्रापणीय तत्त्वतक नहीं है। कारण कि वह अव्यक्त-व्यक्त, अक्षर-क्षर, गति-स्थिति दोनोंसे रहित निरपेक्ष तत्त्व है। उसको प्राप्त होनेपर जीव लौटकर नहीं आता; क्योंकि उसकी अवधि नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन अर्जुन!	**येन**	= जिससे	**परः**	= परम
भूतानि	= सम्पूर्ण प्राणी	**इदम्**	= यह	**पुरुषः**	= पुरुष परमात्मा
यस्य	= जिसके	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण संसार	**तु**	= तो
अन्तःस्थानि	= अन्तर्गत हैं (और)	**ततम्**	= व्याप्त है,	**अनन्यया, भक्त्या**	= अनन्य भक्तिसे
		सः	= वह	**लभ्यः**	= प्राप्त होनेयोग्य है।

व्याख्या—**'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्'**—सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्ने निषेधरूपसे कहा कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं, पर मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं। यहाँ भगवान् विधिरूपसे कहते हैं कि परमात्माके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और परमात्मा सम्पूर्ण संसारमें परिपूर्ण हैं। इसीको भगवान्ने नवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकमें विधि और निषेध—दोनों रूपोंसे कहा है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरे सिवाय किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सब मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं; मेरेमें ही स्थित रहते हैं और मेरेमें ही लीन होते हैं, अतः सब कुछ मैं ही हुआ।

वे परमात्मा सर्वोपरि होनेपर भी सबमें व्याप्त हैं अर्थात् वे परमात्मा सब जगह हैं; सब समयमें हैं; सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं, सम्पूर्ण क्रियाओंमें हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंमें हैं। जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंमें पहले भी सोना ही था, गहनारूप बननेपर भी सोना ही रहा और गहनोंके नष्ट होनेपर भी सोना ही रहेगा। परन्तु सोनेसे बने गहनोंके नाम, रूप, आकृति, उपयोग, तौल, मूल्य आदिपर दृष्टि रहनेसे सोनेकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। ऐसे ही संसारके पहले भी परमात्मा थे, संसाररूपसे भी परमात्मा ही हैं और संसारका अन्त होनेपर भी परमात्मा ही रहेंगे। परन्तु संसारको पांचभौतिक, ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा, अनुकूल-प्रतिकूल आदि मान लेनेसे परमात्माकी तरफ दृष्टि नहीं जाती।

'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'—पूर्वश्लोकमें जिसको अव्यक्त, अक्षर, परमगति आदि नामोंसे कहा गया है, उसीको यहाँ **'पुरुषः स परः'** कहा गया है। ऐसा वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है।

परमात्माके सिवाय प्रकृतिका यावन्मात्र कार्य 'अन्य' कहा जाता है। जो उस 'अन्य' की स्वतन्त्र सत्ता मानकर उसको आदर देता है, महत्त्व देता है, उसकी अनन्य भक्ति नहीं है। इससे परमात्माकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर वह परमात्माके सिवाय किसीकी भी सत्ता और महत्ता न माने तथा भगवान्के नाते, भगवान्की प्रसन्नताके लिये प्रत्येक क्रिया करे, तो यह उसकी अनन्यभक्ति है। इसी अनन्य-भक्तिसे वह परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

परमात्माके सिवाय किसीकी भी सत्ता और महत्ता न माने—यह बात भी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारको सत्ता देकर ही कही जाती है। कारण कि मनुष्यके हृदयमें 'एक परमात्मा है और एक संसार है'—यह बात जँची हुई है। वास्तवमें तो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिके रूपमें एक परमात्मतत्त्व ही है। जैसे बर्फ, ओला, बादल, बूँदें, कोहरा, ओस, नदी, तालाब, समुद्र आदिके रूपमें एक जल ही है, ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण-रूपसे जो कुछ संसार दीखता है, वह सब केवल परमात्म-तत्त्व ही है। भक्तकी मान्यतामें एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ रहता ही नहीं, इसलिये उसकी खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना आदि सभी क्रियाएँ केवल उस परमात्माकी पूजाके रूपमें ही होती हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

विशेष बात

आप अन्तकालमें कैसे जाननेमें आते हैं? (८। २)—यह अर्जुनका प्रश्न बड़ा ही भावपूर्ण मालूम देता है। कारण कि भगवान्को सामने देखते हुए भी अर्जुनमें भगवान्की विलक्षणताको जाननेकी उत्कण्ठा पैदा हो गयी। उत्तरमें भगवान्ने अन्तकालमें अपने चिन्तनकी और सामान्य कानूनकी बात बताकर अर्जुनको सब समयमें भगवच्चिन्तन करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद आठवें श्लोकसे सोलहवें श्लोकतक सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी प्राप्तिके लिये क्रमशः तीन-तीन श्लोक कहे। उनमें भी सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारकी प्राप्तिमें (प्राणोंको रोकनेकी बात साथमें होनेसे) कठिनता बतायी; और सगुण-साकारकी उपासनामें भगवान्का आश्रय लेकर उनका चिन्तन करनेकी बात होनेसे सगुण-साकारकी प्राप्तिमें बहुत सुगमता बतायी।

सोलहवें श्लोकके बाद सगुण-साकार स्वरूपकी विशेष महिमा बतानेके लिये भगवान्ने छः श्लोक कहे। उनमें भी पहलेके तीन श्लोकोंमें ब्रह्माजीकी और उनके ब्रह्मलोककी अवधि बतायी और आगेके तीन श्लोकोंमें ब्रह्माजी और उनके ब्रह्मलोकसे अपनी और अपने लोककी विलक्षणता बतायी। तात्पर्य है कि ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीर (प्रकृति)-से भी मेरा स्वरूप विलक्षण है। उपासनाओंकी जितनी गतियाँ हैं, वे सब मेरे स्वरूपके अन्तर्गत आ जाती हैं। ऐसा वह मेरा सर्वोपरि स्वरूप केवल मेरे परायण होनेसे अर्थात् अनन्यभक्तिसे प्राप्त हो जाता है। मेरा स्वरूप प्राप्त होनेपर

फिर साधकको न तो अन्य स्वरूपोंकी तरफ वृत्ति जाती है और न उनकी आवश्यकता ही रहती है। उसकी वृत्ति केवल मेरे स्वरूपकी तरफ ही रहती है।

इस प्रकार ब्रह्माजीके लोकसे मेरा लोक विलक्षण है, ब्रह्माजीके स्वरूपसे मेरा स्वरूप विलक्षण है और ब्रह्मलोककी गतिसे मेरे लोक-(धाम-) की गति विलक्षण है। तात्पर्य है कि सब प्राणियोंका अन्तिम ध्येय मैं ही हूँ और सब मेरे ही अन्तर्गत हैं।

परिशिष्ट भाव—भक्तिको 'अनन्य' कहनेका तात्पर्य है कि भक्तिके साथ थोड़ा भी जड़ताका अंश, अहम्‌का संस्कार, अपने मतका संस्कार न रहे अर्थात् किसी भी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न रहे। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करना अनन्यभक्ति है।

सुखकी वासना तो एक ही है, पर सुख-सामग्रीकी तारतम्यता अनेक लोकोंमें है। ब्रह्मलोकतकका सुख भी आकृष्ट न करे, यहाँतक कि अपनी स्वाधीनता-(मुक्ति-) का सुख भी सन्तुष्ट न कर सके, तब भक्ति प्राप्त होती है।

सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा था—'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति**' (७। ७), उसी बातको यहाँ '**यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे कहा है। इसीको आगे नवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें विस्तारसे कहेंगे। इन सबका तात्पर्य है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि ब्रह्मलोकतकको प्राप्त होनेवाले लौटकर आते हैं और मेरेको प्राप्त होनेवाले लौटकर नहीं आते। परंतु किस मार्गसे जानेवाले लौटकर नहीं आते और किस मार्गसे जानेवाले लौटकर आते हैं? यह बताना बाकी रह गया। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् आगेके श्लोकमें उपक्रम करते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

तु	= परन्तु	**योगिनः**	= योगी		होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं,
भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**अनावृत्तिम्**	= अनावृत्तिको	**तम्**	= उस
यत्र	= जिस	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते	**कालम्**	= कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको
काले	= काल अर्थात् मार्गमें	**च, एव**	= और (जिस मार्गमें गये हुए)		
प्रयाता	= शरीर छोड़कर गये हुए	**आवृत्तिम्**	= आवृत्तिको प्राप्त	**वक्ष्यामि**	= मैं कहूँगा।

व्याख्या—[जीवित अवस्थामें ही बन्धनसे छूटनेको 'सद्योमुक्ति' कहते हैं अर्थात् जिनको यहाँ ही भगवत्प्राप्ति हो गयी, भगवान्‌में अनन्यभक्ति हो गयी, अनन्यप्रेम हो गया, वे यहाँ ही परम संसिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं। दूसरे जो साधक किसी सूक्ष्म वासनाके कारण ब्रह्मलोकमें जाकर क्रमशः ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं, उनकी मुक्तिको 'क्रममुक्ति' कहते हैं। जो केवल सुख भोगनेके लिये ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें जाते हैं, वे फिर लौटकर आते हैं। इसको 'पुनरावृत्ति' कहते हैं। सद्योमुक्तिका वर्णन तो पंद्रहवें श्लोकमें हो गया, पर क्रममुक्ति और पुनरावृत्तिका वर्णन करना बाकी रह गया। अतः इन दोनोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं।]

'**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृतिं .... वक्ष्यामि भरतर्षभ**'—पीछे छूटे हुए विषयका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ '**तु**' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

ऊर्ध्वगतिवालोंको कालाभिमानी देवता जिस मार्गसे ले जाता है, उस मार्गका वाचक यहाँ 'काल' शब्द लेना चाहिये; क्योंकि आगे छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकमें इसी 'काल' शब्दको मार्गके पर्यायवाची 'गति' और 'सृति' शब्दोंसे कहा गया है।

'**अनावृत्तिमावृत्तिम्**' कहनेका तात्पर्य है कि अनावृत ज्ञानवाले पुरुष ही अनावृत्तिमें जाते हैं और आवृत ज्ञानवाले पुरुष ही आवृत्तिमें जाते हैं। जो सांसारिक पदार्थों और भोगोंसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो गये हैं, वे

अनावृत ज्ञानवाले हैं अर्थात् उनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ नहीं है, प्रत्युत जाग्रत् है। इसलिये वे अनावृत्तिके मार्गमें जाते हैं, जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता। निष्कामभाव होनेसे उनके मार्गमें प्रकाश अर्थात् विवेककी मुख्यता रहती है।

सांसारिक पदार्थों और भोगोंमें आसक्ति, कामना और ममता रखनेवाले जो पुरुष अपने स्वरूपसे तथा परमात्मासे विमुख हो गये हैं, वे आवृत ज्ञानवाले हैं अर्थात् उनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है। इसलिये वे आवृत्तिके मार्गमें जाते हैं, जहाँसे फिर लौटकर जन्म-मरणके चक्रमें आना पड़ता है। सकामभाव होनेसे उनके मार्गमें अन्धकार अर्थात् अविवेककी मुख्यता रहती है।

जिनका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य है, पर भीतरमें आंशिक वासना रहनेसे जो अन्तकालमें विचलितमना होकर पुण्यकारी लोकों-(भोग-भूमियों-) को प्राप्त करके फिर वहाँसे लौटकर आते हैं, ऐसे योगभ्रष्टोंको भी आवृत्तिवालोंके मार्गके अन्तर्गत लेनेके लिये यहाँ **'चैव'** पद आया है।

यहाँ **'योगिनः'** पद निष्काम और सकाम—दोनों पुरुषोंके लिये आया है।

परिशिष्ट भाव—जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखता है, उसको पीछे लौटकर आना पड़ता है। परन्तु जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रखता, उसको पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।

सम्बन्ध—अब उन दोनोंमेंसे पहले शुक्लमार्गका अर्थात् लौटकर न आनेवालोंके मार्गका वर्णन करते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

जिस मार्गमें—

ज्योतिः	= प्रकाशस्वरूप	**षण्मासाः**	= (और) छः महीनोंवाले	**जनाः**	= पुरुष (पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माके साथ)
अग्निः	= अग्निका अधिपति देवता,	**उत्तरायणम्**	= उत्तरायणका अधिपति देवता है,		
अहः	= दिनका अधिपति देवता,	**तत्र**	= उस मार्गसे	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको
शुक्लः	= शुक्लपक्षका अधिपति देवता,	**प्रयाताः**	= (शरीर छोड़कर) गये हुए	**गच्छन्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
		ब्रह्मविदः	= ब्रह्मवेत्ता		

व्याख्या—**'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्'**—इस भूमण्डलपर शुक्लमार्गमें सबसे पहले अग्नि देवताका अधिकार रहता है। अग्नि रात्रिमें प्रकाश करती है, दिनमें नहीं; क्योंकि दिनके प्रकाशकी अपेक्षा अग्निका प्रकाश सीमित है। अतः अग्निका प्रकाश थोड़ी दूरतक (थोड़े देशमें) तथा थोड़े समयतक रहता है; और दिनका प्रकाश बहुत दूरतक तथा बहुत समयतक रहता है।

शुक्लपक्ष पंद्रह दिनोंका होता है, जो कि पितरोंकी एक रात है। इस शुक्लपक्षका प्रकाश आकाशमें बहुत दूरतक और बहुत दिनोंतक रहता है। इसी तरहसे जब सूर्यभगवान् उत्तरकी तरफ चलते हैं, तब उसको उत्तरायण कहते हैं, जिसमें दिनका समय बढ़ता है। वह उत्तरायण छः महीनोंका होता है, जो कि देवताओंका एक दिन है। उस उत्तरायणका प्रकाश बहुत दूरतक और बहुत समयतक रहता है।

'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः'— जो शुक्लमार्गमें अर्थात् प्रकाशकी बहुलतावाले मार्गमें जानेवाले हैं, वे सबसे पहले ज्योतिःस्वरूप अग्नि देवताके अधिकारमें आते हैं। जहाँतक अग्नि देवताका अधिकार है, वहाँसे पार कराकर अग्नि देवता उन जीवोंको दिनके देवताको सौंप देता है। दिनका देवता उन जीवोंको अपने अधिकारतक ले जाकर शुक्लपक्षके अधिपति देवताके समर्पित कर देता है। वह शुक्लपक्षका अधिपति देवता अपनी सीमाको पार कराकर उन जीवोंको उत्तरायणके अधिपति देवताके सुपुर्द कर देता है। फिर वह उत्तरायणका अधिपति देवता उनको ब्रह्मलोकके अधिकारी देवताके समर्पित कर देता है। इस प्रकार वे क्रमपूर्वक ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं। ब्रह्माजीकी आयुतक वे वहाँ रहकर महाप्रलयमें ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाते

हैं—सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ '**ब्रह्मविदः**' पद परमात्माको परोक्षरूपसे जाननेवाले मनुष्योंका वाचक है, अपरोक्षरूपसे अनुभव करनेवाले ब्रह्मज्ञानियोंका नहीं। कारण कि अगर वे अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी होते, तो यहाँ ही मुक्त (सद्योमुक्त या जीवन्मुक्त) हो जाते और उनको ब्रह्मलोकमें जाना नहीं पड़ता।

परिशिष्ट भाव—पहले साधनावस्थामें जिनके भीतर ब्रह्मलोककी वासना अथवा अपने मतका आग्रह रहा है, वे क्रममुक्तिसे पहले ब्रह्मलोकमें जाते हैं और फिर महाप्रलय आनेपर ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

(कूर्मपुराण, पूर्व० ११। २८४)

'ब्रह्माकी आयु पूर्ण होनेपर जब महाप्रलयकाल उपस्थित होता है, तब वे सम्पूर्ण शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष ब्रह्माके साथ ही परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'

क्रममुक्तिमें ब्रह्मलोक मार्गमें आनेवाले एक स्टेशनकी तरह है, जहाँ सुखकी वासनावाले पुरुष उतरते हैं। परन्तु जिनमें सुखकी वासना नहीं है, वे वहाँ नहीं उतरते; जैसे—हमारा कोई प्रयोजन न हो तो मार्गमें स्टेशन आये या जंगल, क्या फर्क पड़ता है!

उपनिषदोंमें शुक्लमार्गके क्रमका अलग-अलग ढंगसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—अर्चिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् और फिर अमानव पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोकमें (ब्रह्माके पास) ले जाना (४। १५। ५; ५। १०। १-२)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—ज्योतिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, देवलोक, आदित्य, विद्युत् (वैद्युत देव) और फिर मानस पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति (६। २। १५)।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्के अनुसार—अग्निलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक (१। ३)।

ब्रह्मसूत्र (४। ३। २-३)-में भी इसपर विचार किया गया है।

शुक्लमार्गको उपनिषदोंमें देवयान, अर्चिमार्ग, उत्तरमार्ग, देवपथ और ब्रह्मपथ नामसे भी कहा गया है।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें कृष्णमार्गका अर्थात् लौटकर आनेवालोंके मार्गका वर्णन करते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

जिस मार्गमें—

धूमः	= धूमका अधिपति देवता,	**षण्मासाः**	= छः महीनोंवाले	**चान्द्रमसम्**	= चन्द्रमाकी
रात्रिः	= रात्रिका अधिपति देवता,	**दक्षिणायनम्**	= दक्षिणायनका अधिपति देवता है,	**ज्योतिः**	= ज्योतिको
कृष्णः	= कृष्णपक्षका अधिपति देवता	**तत्र**	= (शरीर छोड़कर) उस मार्गसे गया हुआ	**प्राप्य**	= प्राप्त होकर
तथा	= और	**योगी**	= योगी (सकाम मनुष्य)	**निवर्तते**	= लौट आता है अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है।

व्याख्या—'**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः ''''' प्राप्य निवर्तते**'—देश और कालकी दृष्टिसे जितना अधिकार अग्नि अर्थात् प्रकाशके देवताका है, उतना ही अधिकार धूम अर्थात् अन्धकारके देवताका है। वह धूमाधिपति देवता कृष्णमार्गसे जानेवाले जीवोंको अपनी सीमासे पार कराकर रात्रिके अधिपति देवताके अधीन कर देता है। रात्रिका

अधिपति देवता उस जीवको अपनी सीमासे पार कराकर देश-कालको लेकर बहुत दूरतक अधिकार रखनेवाले कृष्णपक्षके अधिपति देवताके अधीन कर देता है। वह देवता उस जीवको अपनी सीमासे पार कराकर देश और कालकी दृष्टिसे बहुत दूरतक अधिकार रखनेवाले दक्षिणायनके अधिपति देवताके समर्पित कर देता है। वह देवता उस जीवको चन्द्रलोकके अधिपति देवताको सौंप देता है। इस प्रकार कृष्णमार्गसे जानेवाला वह जीव धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके देशको पार करता हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको अर्थात् जहाँ अमृतका पान होता है, ऐसे स्वर्गादि दिव्य लोकोंको प्राप्त हो जाता है। फिर अपने पुण्योंके अनुसार न्यूनाधिक समयतक वहाँ रहकर अर्थात् भोग भोगकर पीछे लौट आता है।

यहाँ एक ध्यान देनेकी बात है कि यह जो चन्द्रमण्डल दीखता है, यह चन्द्रलोक नहीं है। कारण कि यह चन्द्रमण्डल तो पृथ्वीके बहुत नजदीक है, जब कि चन्द्रलोक सूर्यसे भी बहुत ऊँचा है। उसी चन्द्रलोकसे अमृत इस चन्द्रमण्डलमें आता है, जिससे शुक्लपक्षमें ओषधियाँ पुष्ट होती हैं।

अब एक समझनेकी बात है कि यहाँ जिस कृष्णमार्गका वर्णन है, वह शुक्लमार्गकी अपेक्षा कृष्णमार्ग है। वास्तवमें तो यह मार्ग ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें जानेका है। सामान्य मनुष्य मरकर मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं, जो पापी होते हैं, वे आसुरी योनियोंमें जाते हैं और उनसे भी जो अधिक पापी होते हैं, वे नरकके कुण्डोंमें जाते हैं—इन सब मनुष्योंसे कृष्णमार्गसे जानेवाले बहुत श्रेष्ठ हैं। वे चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं—ऐसा कहनेका यही तात्पर्य है कि संसारमें जन्म-मरणके जितने मार्ग हैं, उन सब मार्गोंसे यह कृष्णमार्ग (ऊर्ध्वगतिका होनेसे) श्रेष्ठ है और उनकी अपेक्षा प्रकाशमय है।

कृष्णमार्गसे लौटते समय वह जीव पहले आकाशमें आता है। फिर वायुके अधीन होकर बादलोंमें आता है और बादलोंमेंसे वर्षाके द्वारा भूमण्डलपर आकर अन्नमें प्रवेश करता है। फिर कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली योनिके पुरुषोंमें अन्नके द्वारा प्रवेश करता है और पुरुषसे स्त्री-जातिमें जाकर शरीर धारण करके जन्म लेता है। इस प्रकार वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है।

यहाँ सकाम मनुष्योंको भी 'योगी' क्यों कहा गया है? इसके अनेक कारण हो सकते हैं; जैसे—

(१) गीतामें भगवान्‌ने मरनेवाले प्राणियोंकी तीन गतियाँ बतायी हैं—ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। इनमेंसे ऊर्ध्वगतिका वर्णन इस प्रकरणमें हुआ है। मध्यगति और अधोगतिसे ऊर्ध्वगति श्रेष्ठ होनेके कारण यहाँ सकाम मनुष्योंको भी योगी कहा गया है।

(२) जो केवल भोग भोगनेके लिये ही ऊँचे लोकोंमें जाता है, उसने संयमपूर्वक इस लोकके भोगोंका त्याग किया है। इस त्यागसे उसकी यहाँके भोगोंके मिलने और न मिलनेमें समता हो गयी है। इस आंशिक समताको लेकर ही उसको यहाँ योगी कहा गया है।

(३) जिनका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है, पर अन्तकालमें किसी सूक्ष्म भोग-वासनाके कारण वे योगसे विचलितमना हो जाते हैं, तो वे ब्रह्मलोक आदि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं और वहाँ बहुत समयतक रहकर पीछे यहाँ भूमण्डलपर आकर शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं। ऐसे योगभ्रष्ट मनुष्योंका भी जानेका यही मार्ग (कृष्णमार्ग) होनेसे यहाँ सकाम मनुष्यको भी योगी कह दिया है।

भगवान्‌ने पीछेके (चौबीसवें) श्लोकमें ब्रह्मको प्राप्त होनेवालोंके लिये '**ब्रह्मविदो जनाः**' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया है और यहाँ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होनेवालोंके लिये '**योगी**' कहकर एकवचनका प्रयोग किया है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि सभी मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं और परमात्माकी प्राप्ति सुगम है। कारण कि परमात्मा सबको स्वतः प्राप्त हैं। स्वतःप्राप्त तत्त्वका अनुभव बड़ा सुगम है। इसमें करना कुछ नहीं पड़ता। इसलिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है। परन्तु स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये विशेष क्रिया करनी पड़ती है, पदार्थोंका संग्रह करना पड़ता है, विधि-विधानका पालन करना पड़ता है। इस प्रकार स्वर्गादिको प्राप्त करनेमें भी कठिनता है तथा प्राप्त करनेके बाद पीछे लौटकर भी आना पड़ता है। इसलिये यहाँ एकवचन दिया गया है।

विशेष बात

(१)

जिनका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है; परन्तु सुखभोगकी सूक्ष्म वासना सर्वथा नहीं मिटी है, वे शरीर छोड़कर ब्रह्मलोकमें जाते हैं। ब्रह्मलोकके भोग भोगनेपर उनकी वह

वासना मिट जाती है तो वे मुक्त हो जाते हैं। इनका वर्णन यहाँ चौबीसवें श्लोकमें हुआ है।

जिनका उद्‌देश्य परमात्मप्राप्तिका ही है और जिनमें न यहाँके भोगोंकी वासना है तथा न ब्रह्मलोकके भोगोंकी; परन्तु जो अन्तकालमें निर्गुणके ध्यानसे विचलित हो गये हैं, वे ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें नहीं जाते। वे तो सीधे ही योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं अर्थात् जहाँ पूर्वजन्मकृत ध्यानरूप साधन ठीक तरहसे हो सके, ऐसे योगियोंके कुलमें उनका जन्म होता है। वहाँ वे साधन करके मुक्त हो जाते हैं (गीता—छठे अध्यायका बयालीसवाँ-तैंतालीसवाँ श्लोक)।

—उपर्युक्त दोनों साधकोंका उद्‌देश्य तो एक ही रहा है, पर वासनामें अन्तर रहनेसे एक तो ब्रह्मलोकमें जाकर मुक्त होते हैं और एक सीधे ही योगियोंके कुलमें उत्पन्न होकर साधन करके मुक्त होते हैं।

जिनका उद्‌देश्य ही स्वर्गादि ऊँचे-ऊँचे लोकोंके सुख भोगनेका है, वे यज्ञ आदि शुभ-कर्म करके ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें जाते हैं और वहाँके दिव्य भोग भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पीछे लौटकर आ जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं (गीता—सातवें अध्यायके बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक, आठवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक और नवें अध्यायका बीसवाँ-इक्कीसवाँ श्लोक)।

जिसका उद्‌देश्य तो परमात्मप्राप्तिका ही रहा है; पर सांसारिक सुखभोगकी वासनाको वह मिटा नहीं सका। इसलिये अन्तकालमें योगसे विचलित होकर वह स्वर्गादि लोकोंमें जाकर वहाँके भोग भोगता है और फिर लौटकर शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। वहाँ वह जबर्दस्ती पूर्वजन्मकृत साधनमें लग जाता है और मुक्त हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ, चौवालीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)।

—उपर्युक्त दोनों साधकोंमें एकका तो उद्‌देश्य ही स्वर्गके सुखभोगका है, इसलिये वह पुण्यकर्मोंके अनुसार वहाँके भोग भोगकर पीछे लौटकर आता है। परन्तु जिसका उद्‌देश्य परमात्माका है और वह विचारद्वारा सांसारिक भोगोंका त्याग भी करता है, फिर भी वासना नहीं मिटी, तो अन्तमें भोगोंकी याद आनेसे वह स्वर्गादि लोकोंमें जाता है। उसने जो सांसारिक भोगोंका त्याग किया है, उसका बड़ा भारी माहात्म्य है। इसलिये वह उन लोकोंमें बहुत समयतक भोग भोगकर यहाँ श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

(२)

सामान्य मनुष्योंकी यह धारणा है कि जो दिनमें, शुक्लपक्षमें और उत्तरायणमें मरते हैं, वे तो मुक्त हो जाते हैं, पर जो रातमें, कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनमें मरते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती। यह धारणा ठीक नहीं है। कारण कि यहाँ जो शुक्लमार्ग और कृष्णमार्गका वर्णन हुआ है, वह ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करनेवालोंके लिये ही हुआ है। इसलिये अगर ऐसा ही मान लिया जाय कि दिन आदिमें मरनेवाले मुक्त होते हैं और रात आदिमें मरनेवाले मुक्त नहीं होते, तो फिर अधोगतिवाले कब मरेंगे? क्योंकि दिन-रात, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष और उत्तरायण-दक्षिणायनको छोड़कर दूसरा कोई समय ही नहीं है। वास्तवमें मरनेवाले अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही ऊँच-नीच गतियोंमें जाते हैं, वे चाहे दिनमें मरें, चाहे रातमें; चाहे शुक्लपक्षमें मरें, चाहे कृष्णपक्षमें; चाहे उत्तरायणमें मरें, चाहे दक्षिणायनमें—इसका कोई नियम नहीं है।

जो भगवद्भक्त हैं, जो केवल भगवान्‌के ही परायण हैं, जिनके मनमें भगवद्दर्शनकी ही लालसा है, ऐसे भक्त दिनमें या रातमें, शुक्लपक्षमें या कृष्णपक्षमें, उत्तरायणमें या दक्षिणायनमें, जब कभी शरीर छोड़ते हैं, तो उनको लेनेके लिये भगवान्‌के पार्षद आते हैं। पार्षदोंके साथ वे सीधे भगवद्धाममें पहुँच जाते हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि जब मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार ही गति पाता है, तो फिर भीष्मजीने, जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष थे, दक्षिणायनमें शरीर न छोड़कर उत्तरायणकी प्रतीक्षा क्यों की?

इसका समाधान यह है कि भीष्मजी भगवद्धाम नहीं गये थे। वे 'द्यौ' नामक वसु (आजान देवता) थे, जो शापके कारण मृत्युलोकमें आये थे। अत: उन्हें देवलोकमें जाना था। दक्षिणायनके समय देवलोकमें रात रहती है और उसके दरवाजे बंद रहते हैं। अगर भीष्मजी दक्षिणायनके समय शरीर छोड़ते, तो उन्हें अपने लोकमें प्रवेश करनेके लिये बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ती। वे इच्छामृत्यु तो थे ही; अत: उन्होंने सोचा कि वहाँ प्रतीक्षा करनेकी अपेक्षा यहीं प्रतीक्षा करनी ठीक है; क्योंकि यहाँ तो भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होते रहेंगे और सत्संग भी होता रहेगा, जिससे सभीका हित होगा, वहाँ अकेले पड़े रहकर क्या करेंगे? ऐसा सोचकर उन्होंने अपना शरीर दक्षिणायनमें न छोड़कर उत्तरायणमें ही छोड़ा।

परिशिष्ट भाव—निष्कामभाव प्रकाश है और सकामभाव अँधेरा है।

उपनिषदोंमें कृष्णमार्गके क्रमका अलग-अलग प्रकारसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्‌के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा (सोम) और फिर पुनरागमनको प्राप्त होना (५। ४०। ३-४)।

बृहदारण्यकोपनिषद्‌के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, चन्द्रमा और फिर पुनरागमनकी प्राप्ति (६। २। १६)।

कृष्णमार्गको उपनिषदोंमें पितृयान, धूममार्ग और दक्षिणमार्ग नामसे भी कहा गया है।

सम्बन्ध—तेईसवें श्लोकसे शुक्ल और कृष्ण-गतिका जो प्रकरण आरम्भ किया था, उसका आगेके श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

हि	= क्योंकि	**जगतः**	= जगत्-(प्राणिमात्र-) के साथ (सम्बन्ध रखनेवाली)	**अनावृत्तिम्, याति**	= जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता (और)
शुक्लकृष्णे	= शुक्ल और कृष्ण—			**अन्यया**	= दूसरी गतिमें जानेवालेको
एते	= ये दोनों				
गती	= गतियाँ	**मते**	= मानी गयी हैं।		
शाश्वते	= अनादिकालसे	**एकया**	= (इनमेंसे) एक गतिमें	**पुनः,आवर्तते**	= पुनः लौटना पड़ता है।

*व्याख्या—***'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते'—**शुक्ल और कृष्ण—इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध जगत्‌के सभी चर-अचर प्राणियोंके साथ है। तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगतिके साथ मनुष्यका तो साक्षात् सम्बन्ध है और चर-अचर प्राणियोंका परम्परासे सम्बन्ध है। कारण कि चर-अचर प्राणी क्रमसे अथवा भगवत्कृपासे कभी-न-कभी मनुष्य-जन्ममें आते ही हैं और मनुष्यजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही उर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति होती है। अब वे ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करें अथवा न करें, पर उन सबका सम्बन्ध ऊर्ध्वगति अर्थात् शुक्ल और कृष्ण-गतिके साथ है ही।

जबतक मनुष्योंके भीतर असत् (विनाशी) वस्तुओंका आदर है, कामना है, तबतक वे कितनी ही ऊँची भोग-भूमियोंमें क्यों न चले जायँ, पर असत् वस्तुका महत्त्व रहनेसे उनकी कभी भी अधोगति हो सकती है। इसी तरह परमात्माके अंश होनेसे उनकी कभी भी ऊर्ध्वगति हो सकती है। इसलिये साधकको हरदम सजग रहना चाहिये और अपने अन्तःकरणमें विनाशी वस्तुओंको महत्त्व नहीं देना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मप्राप्तिके लिये किसी भी लोकमें, योनिमें कोई बाधा नहीं है। इसका कारण यह है कि परमात्माके साथ किसी भी प्राणीका कभी सम्बन्ध-विच्छेद होता ही नहीं। अतः न जाने कब और किस योनिमें वह परमात्माकी तरफ चल दे—इस दृष्टिसे साधकको किसी भी प्राणीको घृणाकी दृष्टिसे देखनेका अधिकार नहीं है।

चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने 'योग'को अव्यय कहा है। जैसे योग अव्यय है, ऐसे ही ये शुक्ल और कृष्ण—दोनों गतियाँ भी अव्यय, शाश्वत हैं अर्थात् ये दोनों गतियाँ निरन्तर रहनेवाली हैं, अनादिकालसे हैं और जगत्‌के लिये अनन्तकालतक चलती रहेंगी।

'एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः'—एक मार्गसे अर्थात् शुक्लमार्गसे गये हुए साधनपरायण साधक अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाते हैं, बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आते; और दूसरे मार्गसे अर्थात् कृष्णमार्गसे गये हुए मनुष्य बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें आते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् दोनों मार्गोंको जाननेका माहात्म्य बतानेके लिये आगेका श्लोक कहते हैं।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**योगी**	= योगी	**सर्वेषु**	= सब
एते	= इन दोनों	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं होता।	**कालेषु**	= समयमें
सृती	= मार्गोंको			**योगयुक्तः**	= योगयुक्त (समतामें स्थित)
जानन्	= जाननेवाला	**तस्मात्**	= अतः		
कश्चन	= कोई भी	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)	**भव**	= हो जा।

व्याख्या—**'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन'**—शुक्लमार्ग प्रकाशमय है और कृष्णमार्ग अन्धकारमय है। जिनके अन्तःकरणमें उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व नहीं है और जिनके उद्देश्य, ध्येयमें प्रकाशस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) परमात्मा ही हैं, ऐसे वे परमात्माकी तरफ चलनेवाले साधक शुक्लमार्गी हैं अर्थात् उनका मार्ग प्रकाशमय है। परन्तु जो संसारमें रचे-पचे हैं और जिनका सांसारिक पदार्थोंका संग्रह करना और उनसे सुख भोगना ही ध्येय होता है, ऐसे मनुष्य तो घोर अन्धकारमें हैं ही, पर जो भोग भोगनेके उद्देश्यसे यहाँके भोगोंसे संयम करके यज्ञ, तप, दान आदि शास्त्रविहित शुभ कर्म करते हैं और मरनेके बाद स्वर्गादि ऊँची भोग-भूमियोंमें जाते हैं, वे यद्यपि यहाँके भोगोंमें आसक्त मनुष्योंसे ऊँचे उठे हुए हैं, तो भी आने-जानेवाले (जन्म-मरणके) मार्गमें होनेसे वे भी अन्धकारमें ही हैं। तात्पर्य है कि कृष्णमार्गवाले ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें जानेपर भी जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं। कहीं जन्म गये तो मरना बाकी रहता है और मर गये तो जन्मना बाकी रहता है—ऐसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए वे कोल्हूके बैलकी तरह अनन्तकालतक घूमते ही रहते हैं।

—इस तरह शुक्ल और कृष्ण दोनों मार्गोंके परिणामको जाननेवाला मनुष्य योगी अर्थात् निष्काम हो जाता है, भोगी नहीं। कारण कि वह यहाँके और परलोकके भोगोंसे ऊँचा उठ जाता है। इसलिये वह मोहित नहीं होता।

सांसारिक भोगोंके प्राप्त होनेमें और प्राप्त न होनेमें जिसका उद्देश्य निर्विकार रहनेका ही होता है, वह योगी कहलाता है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन'— जिसका ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया है कि मुझे तो केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही करनी है, तो फिर कैसे ही देश, काल, परिस्थिति आदिके प्राप्त हो जानेपर भी वह विचलित नहीं होता अर्थात् उसकी जो साधना है, वह किसी देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिके अधीन नहीं होती। उसका लक्ष्य परमात्माकी तरफ अटल रहनेके कारण देश-काल आदिका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। अनुकूल-प्रतिकूल देश, काल, परिस्थिति आदिमें उसकी स्वाभाविक समता हो जाती है। इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू सब समयमें अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके प्राप्त होनेपर उनसे प्रभावित न होकर उनका सदुपयोग करते हुए (अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर मात्र संसारकी सेवा करते हुए और प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयसे अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करते हुए) योगयुक्त हो जा अर्थात् नित्य-निरन्तर समतामें स्थित रह।

परिशिष्ट भाव—कामनावाला मनुष्य ही मोहित होता है अर्थात् जन्म-मरणमें जाता है। शुक्ल और कृष्णमार्गको जाननेवाला मनुष्य निष्काम हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें नहीं जाता अर्थात् कृष्णमार्गको प्राप्त नहीं होता।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** और यहाँ कहते हैं— **'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।'** तात्पर्य है कि भगवत्स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌में लगना भी 'योग' है और समतामें स्थित होना अर्थात् संसारसे हटना भी 'योग' है। दोनोंका परिणाम एक ही है।

सम्बन्ध—अब भगवान् इस अध्यायमें वर्णित विषयको जाननेकी महिमा बताते हैं।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी	= योगी (भक्त)	**तपःसु**	= तपोंमें	**सर्वम्**	= सभी पुण्यफलोंका
इदम्	= इसको (इस अध्यायमें वर्णित विषयको)	**च, एव**	= तथा	**अत्येति**	= अतिक्रमण कर जाता है
		दानेषु	= दानमें		
		यत्	= जो-जो	**च**	= और
विदित्वा	= जानकर	**पुण्यफलम्**	= पुण्यफल	**आद्यम्, स्थानम्**	= आदिस्थान
वेदेषु	= वेदोंमें,	**प्रदिष्टम्**	= कहे गये हैं,	**परम्**	= परमात्माको
यज्ञेषु	= यज्ञोंमें,	**तत्**	= उन	**उपैति**	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—'**वेदेषु यज्ञेषु तपःसु ⋯⋯⋯ स्थानमुपैति चाद्यम्**'—यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी शास्त्रीय उत्तम-से-उत्तम कार्य हैं और उनका जो फल है, वह विनाशी ही होता है। कारण कि जब उत्तम-से-उत्तम कार्यका भी आरम्भ और समाप्ति होती है, तो फिर उस कार्यसे उत्पन्न होनेवाला फल अविनाशी कैसे हो सकता है? वह फल चाहे इस लोकका हो, चाहे स्वर्गादि भोग-भूमियोंका हो, उसकी नश्वरतामें किंचिन्मात्र भी फरक नहीं है। जीव स्वयं परमात्माका अविनाशी अंश होकर भी विनाशी पदार्थोंमें फँसा रहे, तो इसमें उसकी अज्ञता ही मुख्य है। अतः जो मनुष्य इस अध्यायमें वर्णित विषयके रहस्यको समझ लेता है, वह यज्ञ, तप, दान आदि सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है। कारण कि वह यह समझ लेता है कि भोग-भूमियोंकी भी आखिरी हद जो ब्रह्मलोक है, वहाँ जानेपर भी लौटकर पीछे आना पड़ता है; परन्तु भगवान्‌को प्राप्त होनेपर लौटकर नहीं आना पड़ता (आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक); और साथ-साथ यह भी समझ लेता है कि मैं तो साक्षात् परमात्माका अंश हूँ तथा ये प्राकृत पदार्थ नित्य-निरन्तर अभावमें, नाशमें जा रहे हैं, तो फिर वह नाशवान् पदार्थोंमें, भोगोंमें न फँसकर भगवान्‌के ही आश्रित हो जाता है। इसलिये वह आदिस्थान* परमात्माको प्राप्त हो जाता है, जिसको इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'परमगति' और 'परमधाम' नामसे कहा गया है।

नाशवान् पदार्थोंके संग्रह और भोगोंमें आसक्त हुआ मनुष्य उस आदिस्थान परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकता। न जाननेकी यह असामर्थ्य न तो भगवान्‌की दी हुई है, न प्रकृतिसे पैदा हुई है और न किसी कर्मका फल ही है अर्थात् यह असामर्थ्य किसीकी देन नहीं है; किन्तु स्वयं जीवने ही परमात्मतत्त्वसे विमुख होकर इसको पैदा किया है। इसलिये यह स्वयं ही इसको मिटा सकता है। कारण कि अपने द्वारा की हुई भूलको स्वयं ही मिटा सकता है और इसको मिटानेका दायित्व भी स्वयंपर ही है। इस भूलको मिटानेमें यह जीव असमर्थ नहीं है, निर्बल नहीं है, अपात्र नहीं है। केवल संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण यह अपनेमें असामर्थ्यका आरोप कर लेता है और इसीसे मनुष्यजन्मके महान् लाभसे वंचित रह जाता है। अतः मनुष्यको संयोगजन्य सुखकी लोलुपताका त्याग करके मनुष्यजन्मको सार्थक बनानेके लिये नित्य-निरन्तर उद्यत रहना चाहिये।

छठे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने पहले योगीकी महिमा कही और पीछे अर्जुनको योगी हो जानेकी आज्ञा दी (छठे अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक); और यहाँ भगवान्‌ने पहले अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दी और पीछे योगीकी महिमा कही। इसका तात्पर्य है कि छठे अध्यायमें योगभ्रष्टका प्रसंग है, और उसके विषयमें अर्जुनके मनमें सन्देह था कि वह कहीं नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? इस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने कहा कि 'कोई किसी तरहसे योगमें लग जाय तो उसका पतन नहीं होता। इतना ही नहीं, इस योगका जिज्ञासुमात्र भी शब्दब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है।' इसलिये योगीकी महिमा पहले कही और पीछे अर्जुनके लिये योगी होनेकी आज्ञा दी। परन्तु यहाँ अर्जुनका प्रश्न रहा कि नियतात्मा पुरुषोंके द्वारा आप कैसे जाननेमें आते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने कहा कि 'जो सांसारिक पदार्थोंसे सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे परायण होता है, उस योगीके लिये मैं सुलभ हूँ', इसलिये पहले 'तू योगी हो जा' ऐसी आज्ञा दी और पीछे योगीकी महिमा कही।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

* **अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः। (गीता १०। २)**
'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता १५। ४)

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ८॥

'अक्षर' और 'ब्रह्म' शब्द परमात्माके निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—इन तीनों स्वरूपोंके वाचक हैं। इन तीनोंमेंसे किसी भी स्वरूपका चिन्तन करनेसे परमात्माके साथ योग (सम्बन्ध) हो जाता है। अत: इस अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रखा गया है।

आठवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथाष्टमोऽध्याय:**' के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके तीन सौ सतहत्तर और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ सत्तानबे है।

(२) '**अथाष्टमोऽध्याय:**' के छ:, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके नौ सौ पैंतालीस और पुष्पिकाके सैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार ग्यारह है। इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे नवाँ, ग्यारहवाँ और अट्ठाईसवाँ—ये तीन श्लोक चौवालीस अक्षरोंके तथा दसवाँ श्लोक पैंतालीस अक्षरोंका है। शेष चौबीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—'**अर्जुन उवाच**' और '**श्रीभगवानुवाच**।'

आठवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे नवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ—ये तीन श्लोक '**उपजाति**' छन्दवाले हैं और अट्ठाईसवाँ श्लोक '**इन्द्रवज्रा**' छन्दवाला है। बचे हुए चौबीस श्लोकोंमेंसे—दूसरे श्लोकके तृतीय चरणमें और चौदहवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; चौबीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; सत्ताईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**' तथा तीसरे श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**जातिपक्ष-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उन्नीस श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

गीता